

श्रामिक दुनिया

सहयोग राशि- 10/- रुपये

इस अंक में...

■ 2011 का मज़दूर आन्दोलन और 2012 की चुनौतियां	-मुकुल	3
■ मज़दूर और कानून	-विनोद	4
■ मंड़धार में मांझा कारीगरों की नैया -हरीश पटेल		6
■ वैश्वीकरण के दौर में सामाजिक सुरक्षा आन्दोलन हमारे अस्तित्व की लड़ाई है -सुनेद्र प्रताप		8
■ दिल्ली के रिक्षा चालक	-ओमप्रकाश	14
■ पहचान और अधिकार के लिए दर-दर भटकते बेघर मज़दूर...	-अशोक पांडे	16
■ हकों से विचित निर्माण क्षेत्र के मज़दूर -वेदप्रकाश		17
■ कूड़े पर जिंदा लोगों की कहानी -शशिभृष्ण पंडित		19
■ भारतीय रेल और उसके मज़दूर -शिव यादव		22
■ मज़दूरी का हक: महिलाओं की स्थिति -शिवानी भारद्वाज		24
■ बीड़ी श्रमिक आज भी शोषण के शिकार -नाजिम अभिषेक		27
■ 28 फरवरी, 2012 की अखिल भारतीय हड्डतात्त्व के समर्थन में -ऑल इंडिया वर्कर्स काउंसिल		28
■ अंतरराष्ट्रीय मज़दूर दिवस	-मनीष जैन	30
■ मारुती सुजुकी मज़दूर आन्दोलन: 'विकास' की विद्रूपताओं के खिलाफ -अंजनी कुमार		31
■ नेशनल एलायंस फॉर लेबर राईट्स (एन.ए.एल.आर) राष्ट्रीय श्रमिक अधिकार मंच: एक परिचय -मुकेश मानस		38

तोड़ो बंधन तोड़ो

तोड़ो बंधन तोड़ो

ये अन्याय के बंधन

तोड़ो बंधन, तोड़ो बंधन, तोड़ो बंधन, तोड़ो

हम क्या जाने भारत में भी आया है स्वराज

ओ भइया आया है स्वराज

आज भी हम भूखे-नंगे हैं आज भी हम मोहताज

ओ भइया आज भी हम मोहताज

रोटी माँगे तो खायें हम लाठी-गोली आज

थैलीशाहों की ठोकर में सारे देश की लाज

ऐ मज़दूर और किसानों - ऐ दुखियारे इंसानों

ऐ छात्रों और जवानों - ऐ दुखियारे इंसानों

झूठी आशा छोड़ो - तोड़ो बन्धन तोड़ो.....

सौ - सौ वादे करके हमसे लिए जिन्होंने वोट

ओ भइया लिए जिन्होंने वोट

देश बचाओ कहकर हमको देते हैं ये चोट

ओ भइया देते हैं ये चोट

नौकरी माँगें नारे मिलते कैसा झूठा गज

शोषण के जूतों से पिसकर रोता भारत आज

ऐ मज़दूर और किसानों - ऐ दुखियारे इंसानों

ऐ छात्रों और जवानों - ऐ दुखियारे इंसानों

झूठी आशा छोड़ो - तोड़ो बन्धन तोड़ो.....

संपादकीय सलाहकार
लाल बहादुर वर्मा
सुरेन्द्र प्रताप

संपादक
राजेश उपाध्याय

संपादन समिति
वेद प्रकाश
मनीष जैन
अशोक सिंह
शिवानी भारद्वाज
हरीश पटेल
शशि भूषण पडित

प्रबंध सहयोग
राहुल मानव
शैलेन्द्र सिंह

सहयोग राशि
दस रुपये

वार्षिक सदस्यता
पचास रुपये

संपर्क
फ्लैट नंवर बी-1, ओम प्लाजा,
प्लाट-97, राजेंद्र नगर सेक्टर-5,
साहिवावाद, जिला- गाजियाबाद (उ.प्र.),
पिन-201005 मो. 09871484549
ई-मेल: duniyashramik@gmail.com

पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के निजी विचार हैं। पत्रिका का उनसे सहमत होना जरूरी नहीं है।

श्रमिक दुनिया

आज हमारा देश और हमारी दुनिया दो भागों में बंटी हुई है। एक तरफ है मालिकों, शासकों और पूँजीपतियों की दुनिया, जहाँ शेयर बाजार है, सट्टा बाजार है, चमचमाते माल्स हैं, बड़ी-बड़ी गाड़ियाँ हैं, कोठियाँ हैं, बंगले हैं, फाईवस्टार होटल हैं, खाने की बर्बादी है, ऊंची ऊंची इमारतें हैं, कारखाने हैं, काला धन है, स्विस बैंक में खाते हैं, विदेश यात्राएँ हैं, चुनाव है, संसद है, सरकार है, पूँजीपतियों की सेवा के लिए बनने वाली नीतियाँ हैं, उनके लिए नई नई सब्सिडी हैं, पर गरीबों के लिए बजट का अभाव है, कट्टी सब्सिडी है, अखवार है, टीवी चैनल हैं, तमाशे हैं। दूसरी तरफ श्रमिकों, मजदूरों की दुनिया है, जहाँ मेहनत है, गरीबी है, फुटपाथ की जिंदगी है, मालिक की गालियाँ हैं, उसके गुंडों की धमकियाँ हैं, सरकारी थ्रम विभाग के कर्मचारियों और मालिकों की मिलीभगत है, फावड़ा है, गेंती है, हंसिया है, हल है, हथौड़ा है, रोजी-रोटी की रोज रोज की अनिश्चितता है, भुखमरी है, अशिक्षा है, इलाज के लिए तरसते परिवार हैं, बेटे के गाँव वापसी को तरसती निगाहें हैं, तैर्डस रुपये रोज पर जीने की अमीरी रेखा है।

ये दो दुनियाएँ एक साथ नहीं रह सकतीं। इन्हें बदलना होगा। वरना ये आपस में एक दिन इतनी जोर से टकराएंगी कि सारी सभ्यता का अस्तित्व खतरे में होगा। पर इस श्रमिकों की दुनिया के बारे में हम कितना सोचते हैं, कितना जानते हैं। स्वयं श्रमिक भी और उनके संगठन भी एक दूसरे की दुनिया के बारे में कितना जानते हैं। श्रमिकों की इस टुकड़ों में बिखरी दुनिया की एक पूरी तर्सीर तभी बन सकती है जब सभी टुकड़े एक दूसरे को देखें और एक साथ जुड़ जाएँ, जुड़ कर अपनी एक नई दुनिया बनाने की कोशिश करें। रिक्षा श्रमिकों की दुनिया, सफाई कर्मियों की दुनिया, निर्माण मजदूरों की दुनिया, कारखानों में मजदूरी करने वालों की दुनिया, खेतों में एक वक्त की रोटी के एवज में खटने वालों की दुनिया, अलग अलग नहीं बदल सकती। उन्हें एक दूसरे को महसूस करना होगा, और एक दूसरे से सीखते हुए नई दुनिया बनाने की राह पर चलना होगा। हांलाकि उनके संघर्ष अपनी जमीन और हकीकतों से ही शुरू होंगे।

‘श्रमिक दुनिया’ पत्रिका कुछ ऐसे मित्रों की एक सामूहिक कोशिश का नतीजा है जो श्रमिकों की दुनिया को बेहतर बनाना चाहते हैं। कुछ मित्रों ने यह पूछा कि ‘श्रमिक दुनिया’ पत्रिका क्यों? जितनी ज्यादा पत्रिकाएँ श्रमिकों की ज्यादा से ज्यादा बात कर सकें उतना ही अच्छा होगा। मजदूरों के पक्ष में उठने वाली आवाजें जितनी ज्यादा और जितनी जोरदार हो सकें उतना ही अच्छा होगा। ऐसी और भी पत्रिकाएँ निकल सकें तो और भी अच्छा होगा। हम इस पत्रिका की विशेषता और भविष्य के बारे में कोई दावा या वादा करना उचित नहीं समझते। फिर भी इस बात की कोशिश रहेगी कि इस पत्रिका के जरिये श्रमिक वर्ग के विभिन्न हिस्से एक दूसरे की दुनिया के बारे में ज्यादा जान सकें, ‘गैर-श्रमिक’ वर्ग के लोग भी श्रमिकों की दुनिया के बारे में ज्यादा जान सकें, समझ सकें और उसे बेहतर बनाने के लिए कुछ करने को प्रेरित हो सकें। श्रम के सम्मान और श्रमिकों की अन्य वर्गों के साथ बराबरी पर आधारित एक नई दुनिया के लिए पत्रिका अपना छोटा ही सही पर कुछ योगदान करना जरूर चाहेगी। भावनात्मक, विचारधारात्मक, तथ्यात्मक सामग्री की विविधता रखने की कोशिश होगी। पत्रिका किसी खास विचारधारा या राजनीति या संगठन या आंदोलन के साथ नहीं बंधी होगी। यह सिर्फ पूँजीवाद के विरुद्ध श्रमिकों के अधिकारों के संघर्षों से और समानता, शोषण-विहीनता, वर्ग-विहीनता के मूल्यों से बंधी होगी।

2011 का मज़दूर आन्दोलन और 2012 की चुनौतियाँ....

■ मुकुल

साल 2011 की शुरुआत जहाँ दिल्ली के तुगलकाबाद में अमेजिंग क्रिएशन नामक एक गारमेण्ट कारखाने में आग लगने से 16 मज़दूरों की जलकर मौत व 5 के बायत होने से हुई तो अंत कर्नाटक उच्चन्यायालय द्वारा मनरेगा मज़दूरों को न्यूनतम मज़दूरी देने के एक अहम फैसले से हुई। ये दोनों महत्वपूर्ण खबरें मीडिया से प्रायः गायब रहीं।

यह गौरतलब है कि लोकपाल के बहस की खबरों में गुम कर्नाटक उच्च न्यायालय ने राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना (मनरेगा) की मज़दूरी के संदर्भ में दिए अपने फैसले में साफ तौर पर कहा कि न्यूनतम मज़दूरी के कानून का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। वीतते साल का यह फैसला ऐसे दौर में आया है जब निजीकरण (पीपीपी), छट्ठनी, तालावन्दी, डाउनसाइजिंग, ठेकाकरण की तेज मुहिम चल रही है, विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज) व 'लचीले श्रम कानून' के बहाने लम्बे संघर्षों के दौरान मिले कानूनों को छीनना जायज ठहराया जा चुका है। राज्य मशीनरी ज्यादा दमनकारी हुई है तो न्यायपालिकाएं ज्यादा आक्रामक और मज़दूर विरोधी फैसलों के लिए कुख्यात।

वैसे 2011 का साल मज़दूर हादसों में बढ़ोत्तरी का रहा है तो छोटे-बड़े संघर्षों का भी। हालांकि ज्यादातर आन्दोलन छिने जा चुके पुराने अधिकारों की बहाली, श्रमकानूनों को लागू करने, यूनियन बनाने के अधिकार, ठेकेदारी प्रथा को खत्म करने आदि के इर्द-गिर्द व विखरे-विखरे रहे।

दरअसल, आज मज़दूरों के काम करने की स्थितियाँ एकदम कठिन हो चुकी हैं। आधुनिक तकनीकें और सी.एन.सी. मशीनें श्रमशक्ति को काफी घटा दी हैं। ऊपर से ठेकेदारी में मामूली दिहाड़ी पर 12-12 घण्टे खटना नियम बन चुका है। सुरक्षा के कोई इंतजाम न होने से रोजमर्ही के हादसे आम बात बन चुके हैं। अंग-भंग होने से लेकर जान जाने तक की घटनाएं लगातार बढ़ती

जा रही हैं। कारखानों के इर्द-गिर्द डाक्टरों के धर्षण भी खूब चमक गये हैं, क्योंकि धायलों के कथित इलाज के बहाने कम्पनियों के कुकर्मों को ढकने का ठेका इन्हीं के पास होता है। यह भी गौरतलब है कि अवसरवादी हो चुकी पुरानी ट्रेड यूनियनें, उनके महासंघ और मठाधीश मज़दूर नेताओं की काली करतूं कोड़ में खाज का काम कर रही हैं।

इसी आलोक में आइए, 2011 के कुछ मज़दूर संघर्षों पर नजर डालते हैं।

देशी-विदेशी कम्पनियों के नए हव गुजरात के हलोक में बहुराष्ट्रीय जनरल मोटर के मज़दूरों का संघर्ष, पश्चिम वंगाल में मज़दूर क्रान्ति परिपद के नेतृत्व में बन्द कारखानों के मज़दूरों का बन्दी भत्ता वढ़ाने का आन्दोलन, ईसीएल के खुदिया कोयलरी में पीस रेट श्रमिकों की हड़ताल, महाराष्ट्र में वोल्टास कारखाने की बन्दी के खिलाफ सफल मज़दूर आन्दोलन, तामिलनाडु में न्यूकिलयर एनर्जी परियोजना विरोधी आन्दोलन, उड़ीसा में पास्को विरोधी प्रतिरोध संघर्ष, उत्तरप्रदेश में भट्टीन से लेकर अलीगढ़, ग्रेटर नोएडा तक जमीन छीने जाने के खिलाफ किसानों के उग्र आन्दोलन, गोरखपुर का मज़दूर आन्दोलन, उत्तरप्रदेश के लम्बे समय से बन्द कर्ताई मिलों के मज़दूरों का सामूहिक सेवा निवृत्ति के लिए लखनऊ में कई दौर के धरना-प्रदर्शन के बाद वी.आर.एस. की प्राप्ति, सहित तमाम प्रतिरोध आन्दोलन पूरे वर्ष चलते रहे।

इस क्रम में, उत्तराखण्ड में जहाँ 4600 शिक्षा मित्रों का नियमितीकरण को लेकर सतत जारी आन्दोलन व पुलिसिया दमन 2011 में सुर्खियों में रहा, वहीं वी.पी.एड. प्रशिक्षित वेराजगारों का भी आन्दोलन चलता रहा। उधर राज्य के औद्योगिक क्षेत्र सिड्कुल में लगातार बढ़ते शोषण-दमन व छट्ठनी के खिलाफ छुट-पुट संघर्ष भी पूरे साल होते रहे। इनमें मंत्री मेटेलिक्स पंतनगर, एवरेंडी हरिद्वार, ब्रूशमैन लि. पंतनगर, सूर्या रोशनी काशीपुर, आई.एम.पी.सी.एल. मोहान-अल्मोड़ा आदि के

संघर्ष प्रमुख हैं। वोल्टास लि. पंतनगर में ठेकेदारी के खाते व श्रमकानूनों को लागू करने आदि मुद्रदों को लेकर आन्दोलन अभी भी चल रहा है।

इसी बीच विदेशी कम्पनियों के हितानुरूप बीमा संशोधन बिल के खिलाफ सार्वजनिक बीमा कर्मियों के आन्दोलन की कुछ कवायदें और सार्वजनिक बैंक कर्मियों के हड़ताल की रस्मअदायगी भी सम्पन्न हुई। सार्वजनिक क्षेत्र के कोल इण्डिया लि. की 10 फीसदी भागेदारी बाजार में बेचने का विरोध भी सामान्य रहा।

इस वर्ष सर्वाधिक सुर्खियों में रहा गुडगाँव-मानेसर में मारुति सुजकी/सुजुकी पॉवरट्रेन/सुजुकी वाइक के मज़दूरों का जुझारु संघर्ष। तमाम उतार-चढ़ावों से भरे इस महत्वपूर्ण आन्दोलन ने कुछ नये सवाल खड़े कर दिये और एक नयी बहस को जन्म दे दिया। 'मज़दूर जीते या हारे', 'नेताओं ने धोखा दिया या मजबूर थे', 'ट्रेडयूनियन महासंघों की भूमिका संदिग्ध थी' 'मज़दूरों की तो आज यही नियति है', 'मज़दूरों में चेतना का अभाव था', 'नेताओं में वैचारिक अपरिक्वता थी', 'आन्दोलन के दौर के समर्थक/पक्षधर लोग निराश हुए' आदि-आदि।

वैसे आज के कठिन दौर में मज़दूर आन्दोलन के सामने यह एक बेहद चुनौतीपूर्ण प्रश्न है। सबक के तौर पर इस मुद्रदे पर गहन विचार मंथन जरूरी है।

यह सच है कि 21वीं सदी का मज़दूर आन्दोलन मुश्किल भरे दौर से गुजर रहा है। जहाँ आज श्रम और पूँजी ज्यादा खुलकर आमने-सामने खड़ी हैं, वहीं श्रम विभाजन ज्यादा जटिल हो गया है। इसने मानव जीवन के समस्त पहलुओं को अपने प्रभाव में ले लिया है। वैश्विक पूँजी एकाकार हुई है, तो दुनिया का मज़दूर वर्ग भी एक दूसरे से अदृश्य धारे में बंधा है। एक रूप में 'दुनिया के मज़दूरों, एक हो' का नारा आज ज्यादा सार्थक अर्थ ग्रहण कर रहा है।

शेष पृष्ठ 23 पर...

मजदूर और कानून

■ विनोद कुमार

अभी हाल ही में एक मजदूर साथी से मुलाकात हुई हाल चाल के बारे में पूछे जाने पर उसने बताया “भाई साहब, 32 साल हो गए हैं नौकरी करते हुए, लेकिन एक दिन भी चैन से नहीं बीता है। इस महीने की तनख्याह मिल गई लेकिन अगले महीने का भरोसा नहीं है। आज नौकरी है लेकिन कल रहेगी या नहीं, पता नहीं।” हमारे यह मजदूर साथी यूनियन से दूर रहते हैं, मालिक का सम्मान करते हैं, लगन से अपना काम करते हैं अभी तक कई बड़ी छोटी कंपनियों में काम कर चुके हैं। इन कंपनियों में से तीन बंद हो चुकी हैं। साथी के परिवार में पत्नी और बुजुर्ग माता-पिता के अलावा बच्चे हैं किसान परिवार के होने के कारण दुःख तकलीफ में गांव से मदद मिल जाती है इसलिए किसी तरह काम चल जाता है।

मजदूर साथी खुद आई-टी.आई से प्रशिक्षित इलैक्ट्रिशियन हैं, बेटे को बड़े चाव से पातिटेक्निक से इलैक्ट्रोनिक्स एंड कम्प्युनिकेशन का कोर्स कराया है। कंपनी में आने वाले हर छोटे बड़े अफसर से बेटे के लिए रोजगार लगवाने की गुहार लगाते रहते हैं। लेकिन अपने कड़वे तजुर्बे की बजह से चाहते हैं कि बेटे की नौकरी सरकारी हो ताकि उसे वह सब न भुगतना पड़े जो उन्होंने देखा है।

इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक की शुरुआत में यह एक तस्वीर है हमारे देश की राजधानी के पास के एक शहर में काम करने वाले मजदूर की। अंग्रेजों की गुलामी से आजाद होने के 64 साल बाद आज जब ज्ञान-विज्ञान के तमाम क्षेत्रों में भारत एक अग्रणी देश है, हम चन्द्रमा पर मानवरहित यान भेजने में सफल हो चुके हैं, आणविक शक्ति बन चुके हैं, सकल धरेलू उपादान की वृद्धि दर के मामले में दुनिया भर में भारत का दूसरा नंबर है, हम संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्यता के लिए दावेदारी पेश कर रहे हैं, फिर भी क्या बजह है कि हम अपने मजदूर साथी को चैन और संतोष का एक दिन भी मुहैया नहीं करा पा रहे हैं? क्यों हर वक्त

उसके सर पर रोजगार की अनिश्चितता की तलवार लटकी रहती है? इस संबंध में मौजूदा कायदे-कानून क्या कहते हैं?

उद्योग और कृषि के क्षेत्र में केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों द्वारा ढेरों कानून बनाए गए हैं। इन कानूनों का वैसे तो श्रम (लेवर) कानून कहा जाता है। लेकिन सही मायने में इन्हें रोजगार कानून कहा जाना चाहिए क्योंकि श्रम कानून शब्द से ऐसा भाव निकलता है मानों ये सारे कानून मजदूरों की भलाई के लिए ही बने हों, जबकि ऐसा नहीं है। दरअसल उत्पादन की प्रक्रिया में मालिक और मजदूर ऐसे दो समूह हैं जिनके हित आपस में टकराते हैं। अपने-अपने सामूहिक हितों की रक्षा के लिए ये दोनों वर्ग अपने-अपने संगठन बनाते हैं और इन संगठनों के जरिए अपने लिए ज्यादा अधिकार सुविधाएं जुटाने की कोशिश करते हैं। श्रम कानून भी इन्हीं कोशिशों का नतीजा होते हैं। इसलिए कानून मजदूरों के हितों के लिए भी होते हैं और मालिकों के लिए भी। भारत के श्रम कानूनों को मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में वांटा जा सकता है। औपनिवेशिक काल में अंग्रेज शासकों द्वारा बनाए गए कानून, आजादी के बाद 1947-89 के दौरान बने कानून और 1990 में उदारीकरण और वैश्वीकरण की शुरुआत के बाद से बने कानून। आजादी से पहले बने कानून अंग्रेज शासकों/उद्योगपतियों/व्यवसायियों के हितों को ध्यान में रख कर बनाए गये थे। 1947 के बाद बने कानून निश्चित तौर पर भारतीय उद्योगपतियों और मजदूरों के पारस्पारिक शक्ति संतुलन की स्थिति को दिखाते हैं। जबकि 1990 के बाद से अब तक बने कानून मुख्यतः अंतरराष्ट्रीय पूँजी की जरूरतों के तहत बनाए गए हैं। हालांकि इस दौर में बन रहे कानूनों को श्रम सुधारों का नाम दिया जा रहा है, लेकिन हकीकत में ये सुधार देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हितों को ध्यान में रख कर ही किए जा रहे हैं।

एक परिभाषा के अनुसार श्रम कानून वे कानून, नियम और उपनियम हैं जो मजदूरों

और उनके संगठनों के कानूनी हक्कों और उन पर लगी सीमाओं को तय करते हैं। ये कानून ट्रेड यूनियनों, मालिकों और मजदूरों के आपसी संबंधों को भी निर्धारित करते हैं। इन कानूनों को दो हिस्सों में वांटा जा सकता है। पहली श्रेणी में वे कानून आते हैं जो सामूहिक तौर पर मजदूरों के हक्कों और उन पर लगी सीमाओं को परिभाषित करते हैं। ये कानून हैं ट्रेड यूनियन एक्ट, औद्योगिक विवाद अधिनियम, फैक्टरी अधिनियम, आदि इन कानूनों के तहत मजदूरों और उनके संगठनों को सामूहिक हितों के लिए आंदोलन करने, हड़ताल करने आदि अधिकार मिले हैं। अलग-अलग उद्योगों में इसी तरह के कई कानून हैं। दूसरी श्रेणी में वे कानून आते हैं जो मजदूरों के व्यक्तिगत हितों को निर्धारित करते हैं, ये कानून हैं उसके कार्य दिवस, छुट्टी, मेडिकल और अन्य सुविधाओं के बारे में। न्यूनतम वेतन अधिनियम इसी तरह का कानून है जिसके तहत सरकार के पास यह अधिकार है कि वह समय-समय पर न्यूनतम वेतन तय कर सके।

श्रम कानूनों को लागू करने के लिए केन्द्र और राज्यों के स्तर पर श्रम विभाग है जिसके जरिए यह सुनिश्चित करने की कोशिश की जाती है कि श्रम कानूनों का ठीक से पालन किया जा रहा है। उल्लंघन के मामलों में श्रम विभाग के पास मुकदमा चलाने और जुरमाना लगाने का अधिकार है, श्रम विभाग की इसी मशीनरी को मालिकों द्वारा अक्सर ‘इंस्पैक्टर राज’ का भी नाम दिया जाता है। पिछले एक लंबे अर्से से मालिकों की कोशिश रही है कि इस ‘इंस्पैक्टर राज’ को या तो खत्म कर दिया जाए या निष्प्रभावी बना दिया जाए। तथाकथित श्रम सुधारों के नाम पर किए जा रहे प्रयास इसी योजना का हिस्सा हैं।

इस संबंध में कुछ उदाहरणों का जिक्र करना जरूरी है। औद्योगिक विवाद अधिनियम के तहत यह जरूरी है कि 100 से ज्यादा मजदूरों वाली कंपनी की मैनेजमेंट यदि तालाबंदी, छंटनी आदि करना चाहती है तो उसे निर्धारित

प्रक्रिया का पालन कर सरकार से पूर्वानुमति लेनी होगी। अब न्यूनतम 100 मजदूरों की सीमा को बढ़ा कर 1000 करने का प्रस्ताव है। इसका मतलब यह हुआ कि उन कंपनियों को इस कानून का पालन करने की जरूरत नहीं होगी जहां मजदूरों की अधिकतम संख्या 1000 से कम है। इसी तरह ठेका श्रम अधिनियम में एक संशोधन के जरिए कुछ खास तरह के कामों को कंपनी से बाहर के लोगों से करवाने की मंजूरी दे दी गई है। ये काम हैं- साफ-सफाई, बागवानी, सुरक्षा, हाऊस कीपिंग, कैटीन, आदि। इसका मतलब हुआ कि ऐसे कामों के लिए कंपनी को नियमित स्टाफ रखने की जरूरत नहीं है।

आम तौर पर पूँजीपतियों की ओर से लगातार श्रम सुधारों की वकालत की जाती है और तर्क यह दिया जाता है कि उदारीकरण और वैश्वीकरण के दौर में उन्हें अंतर्राष्ट्रीय स्तर की प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ रहा है और इसलिए कायदे कानूनों को लचीला बनाया जाना चाहिए ताकि वे इस मुकाबले में टिक सकें। समाचार माध्यमों में भी बुद्धिजीवियों, अर्थशास्त्रियों के हवाले से अक्सर इस तरह के लेख, समाचार आदि प्रकाशित किए जाते हैं जिनमें मालिकों को ज्यादा अधिकार और मौजूदा कानूनों से छूट देने की वकालत की जाती है। मजेदार वात यह है कि ज्यादातर श्रम कानून संगठित क्षेत्र पर ही लागू होते हैं, और कुल मजदूरों का सिर्फ 2 प्रतिशत हिस्सा ही संगठित क्षेत्र में नियोजित है, 98 प्रतिशत मजदूर असंगठित क्षेत्र में कार्यरत हैं जहां अधिकतर श्रम कानून लागू ही नहीं होते हैं। अगर कुछ कानून लागू भी होते हैं तो उन पर निरानी रखना बहुत ही कठिन होता है।

कुछ श्रम कानूनों का उल्लंघन आम बात मानी जाती है। नियम है कि एक दिन में अधिकतम 9 घंटे काम कराया जा सकता है जिसमें आधे घंटे का भोजनावकाश होगा। इससे अधिक कार्य करने पर सामान्य से दो गुना रेट पर ओवरटाइम भत्ता दिया जाएगा। आज 12 घंटे का कार्य दिवस आम बात है, और ओवरटाइम सामान्य रेट पर ही दिया जाता है। इसी तरह का कानून है न्यूनतम वेतन कानून जिसका पालन उसके उल्लंघन में ही होता है। फैक्टरी

में कार्यरत मजदूरों की बड़ी तादाद को रजिस्टर में नहीं दिखाया जाता है, नतीजतन उन्हें पी. एफ, ई.एस.आई, पेंशन जैसी सुविधाएं नहीं मिल पाती हैं। श्रम विभाग के अधिकारों में लगातार कटौती की जा रही है और वैसे भी फैक्टरी मालिकों की उनके साथ मिली भगत ही रहती है। अगर कुछ मामलों में अदालतों तक मुकदमा पहुंचता है तो वहां लगने वाला लंबा समय किसी भी तरह के न्याय को बेमानी बना देता है, और फिर बदलते समय के हिसाब से श्रम कानूनों के मामलों में अदालतों का नजरिया भी बदलता रहता है। एक समय पर अदालतों की निगाह में ‘समान काम के लिए समान वेतन’ होना चाहिए थे लेकिन बाद के दौर में अदालतों ने कहा कि यह वेतन नियमित/ ठेका/ कैजुअल मजदूरों के मामले में अलग-अलग हो सकता है।

अंत में मारुती-सुजुकी की हरियाणा में मानेसर स्थित फैक्टरी के मजदूरों के आंदोलन का जिक्र करना जरूरी है। इस फैक्टरी के मजदूर प्रबंधकों की कठपुतली युनियन में शामिल होने की बजाय अपनी स्वतंत्र यूनियन बनाना चाहते थे जो उनका कानूनी हक है। उन्होंने अपने प्रतिनिधि चुने और राज्य के श्रम विभाग में रजिस्ट्रेशन के लिए आवेदन किया। श्रम विभाग ने उनके आवेदन पर नियमानुसार विचार करने की बजाय फैक्टरी प्रबंधकों को इसकी जानकारी दे दी। स्वाभाविक था कि फैक्टरी प्रबंधक ऐसे किसी कदम का विरोध करते और उसे कुचल देने की कोशिश करते। उसने मजदूर नेताओं के खिलाफ भड़काऊ कार्यवाही करने के झूठे केस दर्ज किए और उन्हें नौकरी से सस्पेंड/बर्खास्त कर दिया। हरियाणा सरकान ने न सिर्फ यूनियन रजिस्ट्रेशन के आवेदन को नामंजूर कर दिया बल्कि मजदूरों के आंदोलन को गैर कानूनी घोषित कर दिया। फैक्टरी प्रबंधकों ने स्थानीय ठेकेदारों, ग्राम प्रधानों, मकान मालिकों के जरिए मजदूरों और मजदूर नेताओं पर हमले करवाए, उन्हें डाराया धमकाया और उनका मनोबल तोड़ने की कोशिश की। पुलिस ने मजदूर नेताओं को फर्जी मुकदमों में गिरफ्तार कर लिया। अदालतों ने कई मामलों में प्रबंधकों को राहत दी और मजदूरों पर रोक लगाई। तो कुल मिलाकर मारुती प्रबंधकों और

मजदूरों के बीच हुए टकराव में एक और प्रबंधकों के हक में खड़े थे- पूँजीपतियों के संगठन, केन्द्र और राज्य सरकार, पुलिस, प्रशासन और अदालत, स्थानीय ठेकेदार, ग्राम प्रधान और मकान मालिक। दूसरी ओर थे मजदूर। और इस टकराव में पुरानी स्थापित ट्रेड यूनियनें भी अप्रत्यक्ष रूप में मालिकों के साथ ही खड़ी थीं।

निश्चित तौर पर यह एक गैर बराबरी का मुकाबला था। इसे अपेक्षाकृत अधिक बराबरी वाला मुकाबला बनाने के लिए जरूरी है कि मजदूरों की हिमायती ताकतें उनके साथ कंधे से कंधा मिला कर खड़ी हों। यह काम दो तरह से हो सकता है- मजदूरों के स्वतंत्र संगठनों के निर्माण और ऐसे संगठनों में पारस्परिक सहयोग के जरिए। यह काम तो निश्चित तौर पर मजदूरों को खुद ही करना होगा। दूसरे, मजदूर हितों के प्रति सहानुभूति रखने वाले व्यक्तियों/समूहों को आगे बढ़कर उनके पक्ष में माहौल बनाना होगा, मजदूर अधिकारों में कटौती के तमाम प्रयासों का डट कर विरोध करना होगा और उनके आंदोलन को यथा संभव सहयोग देना होगा। आशा है कि ‘श्रमिक दुनिया’ इस दिशा में एक सार्थक कदम होगा।

सवा दो सौ से भी अधिक क्रान्तिकारी और जनवादी गीतों का अनोखा संग्रह

हर सामाजिक कार्यकर्ता और जनवादी संस्कृतिकर्मी के लिए जरूरी किताब

उठाओ आवाज

उमीद, इंसाफ और देश भक्ति के गाने

प्रतियों के लिए सम्पर्क करें-
फिलहाल ट्रस्ट

एम-46, रोड संख्या-2, श्रीकृष्ण नगर,
पटना-800001 फोन: 0612-2525813, 09472048408
ईमेल- filhaalpatna@gmail.com

श्रमिक दुनिया

फ्लैट नंबर बी-1, ओम प्लाजा, प्लाट-97, राजेंद्र नगर सेक्टर-5, साहिवाबाद, जिला- गाजियाबाद (उ.प्र.), पिन-201005 मो. 09871484549

ईमेल- duniyashramik@gmail.com

मंड़धार मे मांझा कारीगरों की नैया

■ हरीश पटेल

आसमान मे उड़ती रंग बिरंगी पतंगे सदियों से हमारे समाज का हिस्सा रही है। राजा-महाराजा, नबावों के शौक से लेकर आम आदमी भी सदियों से आकाश मे उड़ने की अपनी लालसा को पतंग उड़ा कर आभासी तौर पर पूरा करता रहा है। मकर संक्रान्ति, लोहड़ी, होली, दशहरा, दुर्गा पूजा, रक्षा बंधन समेत अनेक पर्वों पर जमकर पतंग उड़ायी जाती है। मकर संक्रान्ति को तो देश मे कई जगह पतंग पर्व तक कहा जाता है। भारत के किसी भी प्रांत मे चले जाएं हर जगह किसी न किसी मौके पर पतंग उड़ते हुए जरुर दिख जाएगी। पंद्रह अगस्त 1947 से लेकर आज तक हर वर्ष स्वतंत्रता दिवस के मौके पर दिल्ली में लाल किले के मैदान से हजारों लोग पतंग उड़ा कर अपनी खुशी का इजहार करते हैं।

पतंगबाजी एक ऐसा खेल है जिसमें पतंग उड़ाने मे जितना रोमांच है, उससे ज्यादा पतंग काटने में यानि कि पेंच लड़ाने में। पेंच लड़ाने के इसी खेल से जन्म हुआ एक विशेष धारो - मांझे का। चावल की लुग्डी मे रंग, जड़ी-बूटियां और कुछ मात्रा मे पिसा शीशा मिला कर मांझा बनाया जाता है। सदियों से बरेती पतंग और मांझा बनाने का एक प्रमुख केन्द्र रहा है।

मंडल मुख्यालय एवं शैक्षिक-सांस्कृतिक केन्द्र होने के कारण वड़ी संख्या में आस-पास के कई जिलों से लोग काम की तलाश में बरेती आते हैं। तकरीबन 20 लाख लोग शहर की अधिकृत और अनधिकृत कॉलोनियों, बस्तियों में रहते हैं। औद्योगिक शहर न होने के चलते यहां की अधिकांश आबादी दस्तकारी, हस्तशिल्प, निर्माण एवं अन्य कार्यों में लगी है। साड़ियों पर कढ़ाई (जरदोजी), दरी बनाना, पतंग-मांझा निर्माण, सुर्मा एवं फर्नीचर निर्माण वे प्रमुख काम हैं जिनमें बरेती की व्यापक आबादी काम पाती है।

शहर के छोटे से औद्योगिक क्षेत्र के कई कारखानों के बन्द होने एवं कई कारखानों

के अन्य राज्यों में पयालन से पिछले कुछ वर्षों में बेरोजगारी और बढ़ी है। पहले से बेरोजगार लोगों की संख्या में इन नये बेरोजगारों के जुड़ने से उपरोक्त दस्तकारी और हस्तशिल्प के कामों पर काफी दबाव बढ़ा है।

दस्तकारी और हस्तशिल्प के कामों में लगी आबादी का एक बड़ा हिस्सा पतंग और मांझा बनाने वालों का है। मांझा कारीगरों की व्यापक आबादी पर मुसीबतों के बादल मंडराने लगे हैं। यह मुसीबत है चीन निर्मित सस्ते मांझे की। कैमिकल एवं धातुओं के मिश्रण से तैयार एक प्लास्टिक की डोर, जिसे चीनी मांझा बोला जा रहा है पिछले दो सालों से बाजार में आया है। चीन के राज्य सहायतित उच्च-तकनीक से निर्मित इस मांझे की सस्ती कीमत का मुकाबला हस्तनिर्मित मांझा नहीं कर पा रहा है। चीनी मांझा हाथ से बने मांझे की तुलना में लगभग आधे दाम पर मिल रहा है। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि मांझा कारोबार पर मंडरा रहे खतरों एवं मांझा कारीगरों की स्थिति जानने और समझने का कभी कोई सरकारी प्रयास आज तक नहीं हुआ है।

बरेती मे 30 हजार परिवार मांझा बनाने के काम में लगे हुए हैं। करीब एक से डेढ़ लाख लोगों की आजीविका मांझा बनाने के काम से चलती है। पुराने समय से ही बरेती के मांझे की अपनी खास पहचान रही है। आज भी बरेती का बना मांझा और पतंग पूरे भारत में प्रसिद्ध है। राजे-रजवाड़ों के जमाने से ही बरेती के मांझे की अलग पहचान है। उत्तर प्रदेश के लगभग सभी शहरों एवं उत्तराखण्ड, दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार समेत भारत के अन्य कई राज्यों में भी बरेती से मांझा जाता है।

मांझा बनाने के काम में अधिकतर मुस्लिम समुदाय के लोग लगे हैं। अधिकतर मांझा कारीगर अशिक्षित हैं और अन्य किसी भी कार्य को नहीं कर सकते। शहर के

बाहरी क्षेत्र स्वाले नगर, वाकरगंज, किला, सी.बी.गंज में दिल्ली-त्रिखनऊ नेशनल हाईवे के किनारे मांझा कारीगर पेड़ों पर तिपटे रंग-बिरंगे मांझे के साथ नजर आते हैं। शहरी क्षेत्र के हुसैन बाग, कटघर, कंधी टोला, सराय, सुर्खा आदि क्षेत्र के अलावा मथुरापुर, विद्यैलिया, मिलक, वंशीनगला, मठ, सनऊ आदि दो दर्जन से भी अधिक गाँवों में मांझा बनाने का काम रोजगार का प्रमुख साधन है।

पतंग बनाने के लिए वर्कशाप या डुकान की जरूरत होती है, जबकि मांझा बनाने के लिए खुली जगह की। मांझा कारीगर सड़क के किनारे लगे पेड़ या फिर किसी बाग को इस काम के लिए छुनते हैं, जहां धूप आ सके जिससे मांझा जलदी सूख जाये। सबसे पहले इस काम में दो ऐसे पेड़ों, जिनके बीच पर्याप्त दूरी हो, पर धागा लपेटा जाता है। फिर इस धागे पर पके हुए चावल की लुग्डी में रंग एवं पिसा हुआ शीशा मिला कर लगाया जाता है। इस प्रक्रिया में कई चक्कर लगाने के बाद जाकर एक चर्खी मांझे का निर्माण होता है। इसे सूखने के बाद लकड़ी की चर्खियों में लपेट लिया जाता है। पिछड़ी तकनीक पर आधारित होने के कारण इस काम में मेहनत ज्यादा लगती है और आय कम। दिन भर की मेहनत के बाद एक औसत कारीगर के हाथ मुश्किल से 60 से 80 रु. की मजदूरी आती है। तीखी चिलचिलाती धूप हो या ठिठुराती ठंड, हमेशा प्रतिकूल मौसम में इन्हे काम करना होता है, जिसका दुष्प्रभाव इनके स्वास्थ्य पर पड़ता है। बारिश के मौसम में आम तौर पर मांझे का काम ठप्प पड़ जाता है और कारीगरों के भूखों मरने की नौबत आ जाती है। जैसे-तैसे उधार लेकर मांझा कारीगर बारिश के मौसम को काटते हैं। मांझे कारोबार के साथ उन महिलाओं का जीवन भी जुड़ा है जो घरों में शीशा कूटने-पीसने के काम में लगी हैं। शहर से लेकर ग्रामीण क्षेत्र तक

तमाम महिलायें मांझा कारोबार को पिसे हुये शीशे की आपूर्ति के काम में लगी हैं। आम तौर पर शीशे के काम में तीन महिलाओं का ग्रुप लगता है। एक कबाड़ की दुकान से शीशा लाकर कूटने का काम करती है, दूसरी उसे पीसने का और तीसरी महिला उसे छानने का काम करती है। तब जाकर मांझे के उपयोग का बारीक पिसा हुआ शीशा तैयार होता है। मांझे के कारोबार पर मंडरा रहे संकट से इन परिवारों की रोजी रोटी पर भी संकट आ खड़ा हुआ है।

डोर की कालाबाजारी ने भी मारा

चीनी मांझे से मिल रही चुनौती तो थी ही पिछले 8 महीनों से मांझा बनाने के धागे की बेतहाशा बढ़ती कीमतों ने कारीगरों की मुसीबतों को दुगना ही किया है। अंतर्राष्ट्रीय बाजार में कपास की कीमतें बढ़ जाने का तर्क देते हुए इस व्यवसाय के लिए धागा बनाने वाली कंपनी ने धागे के दाम बढ़ा दिए। चूंकि मांझा बनाने में इस्तेमाल होने वाले सूती धागे का प्रयोग इस काम के अलावा और किसी काम में नहीं होता, इसलिए एक दो कंपनियां ही इसे बनाती थीं। पिछले कुछ सालों से एक ही कंपनी का इस कारोबार के नब्बे फीसदी धागे की सप्लाई पर नियंत्रण है। कंपनी के धागे का कोई अधिकृत डिपो नहीं है। कुछ व्यापारी कंपनी के अधिकारियों के साथ मिलकर मनमाने तरीके से डोर की कालाबाजारी कर रहे हैं। पिछले साल तक एक दर्जन धागे की रील 220 रुपये के लगभग मिल जाती थी जिसका रेट अब 370 रुपये तक जा पहुंचा है। कच्चे माल (धागे) की कीमतों में हुई बढ़ोत्तरी ने कारीगरों द्वारा तैयार माल की बिक्री पर बहुत ही बुग प्रभाव डाला है।

गरीबी के कारण अधिकांश मांझा कारीगरों के बच्चे स्कूल का मुंह तक नहीं देख पाते। जो बच्चे स्कूल जाते भी हैं उनमें से भी अधिकतर दूसरी-तीसरी कक्षा के बाद स्कूल छोड़ देते हैं। अधिकतर बच्चे सात-आठ साल की उम्र से ही धागा लपेटने एवं मांझा निर्माण के अन्य सहायक कार्यों में लग अपना बचपन खो देते हैं।

इन हाथों में भाग्य रेखा ही नहीं

कहते हैं कि हाथ की रेखाओं में इन्सान का भविष्य छुपा होता है, लेकिन मांझा कारीगरों के हाथों में भाग्य रेखाएं ही नहीं होतीं। मांझे को पैना बनाने के लिए लुगदी में मिलाकर धागों पर लगाया जाने वाला शीशा थीरे-थीरे कारीगरों के हाथों की खाल काटता जाता है। जख्म पर जख्म पड़ते-पड़ते हाथों की भाग्य रेखायें मिट जाती हैं। उनके हाथों में शीशे के कटने से बनी रेखाये रोज व रोज गहराती चली जाती हैं। एक जख्म भरता है तो दूसरा उसकी जगह ले लेता है।

जख्मों के कारण काम की शुरुआत करने वाले व्यक्ति को शुरू में हाथ से खाना खाने में भी दिक्कत होती है। बीमारी और संक्रमण का खतरा तो हर समय रहता ही है।

अशिक्षा, अन्य कार्यों में अकुशलता एवं भारी बेरोजगारी के चलते यह अपना काम भी नहीं बदल सकते। पहले से बढ़हाली में जी रहे मांझा कारीगरों के रोजगार को चौपट करने का काम अब चीनी मांझे ने शुरू कर दिया है। चीनी मांझा उच्च तकनीक से निर्मित है और आधे दाम पर उपलब्ध है। हाथ से बने मांझे की तुलना में अद्याक मजबूत और सर्ते चीनी मांझे ने बाजार पर कब्जा कर लिया है। इस कारण से लगातार हाथ से बने मांझे की मांग कम होती जा रही है और मांझा कारीगर बेरोजगार होने के कगार पर खड़े हैं। चीन निर्मित मांझे की मजबूती जहां पतंग उड़ाने वालों को भा रही है वहीं यह इंसानी जीवन के लिए खतरनाक सावित हो रही है। कुछ महीने पहले बेरोली के किला क्षेत्र में पतंग उड़ाते वक्त चीनी मांझा रास्ते से गुजरती एक बच्ची की गर्दन में फंस गया। जिससे बच्ची बुरी तरह घायल हो गयी। बाद में उस बच्ची की मौत हो गई। ऐसी कई घटनाएं घट चुकी हैं। चीनी मांझा चूंकि आसानी से टूटता नहीं है, इसलिए इससे दुर्घटनाओं का खतरा बहुत बढ़ गया है। इन्हीं कारणों से राजस्थान के कई जिलों में बसंत पंचमी के मौके पर स्थानीय जिला प्रशासन ने चीनी मांझे की खरीद बिक्री पर रोक लगा दी थी। गुजरात में तो सरकार के स्तर से चीनी मांझे के

दुष्प्रभावों को देखते हुए पूरे राज्य में इसके कारोबार पर रोक लगा दी गयी है।

तगातार बढ़ती महगाई एवं कम होती मजदूरी के बाद अब रोजगार पर आ खड़े हुये चीनी संकट से मांझा कारीगर भारी मुश्किल में फंस गये हैं। सरकार के पास इसका कोई विश्वसनीय आंकड़ा नहीं है कि बरेती में कुल कितने लोग मांझा बनाने के काम में लगे हैं। मांझा कारीगर जो कि आदि अक्तर अनपढ़ हैं और अल्पसंख्यक समुदाय से ताल्लुक रखते हैं यह भी नहीं जानते कि सराकर की गरीबों के विकास के लिए कौन सी योजनायें चल रही हैं। सरकारी योजनाओं से लाभान्वित होना तो बहुत दूर की बात है। गरीबी रेखा से नीचे जीवन बसर करने के बाबजूद तमाम लोगों के पास बी.पी.एल. राशन कार्ड भी नहीं हैं। मांझा कारोबार से जुड़े कारीगरों के अर्थिक सामाजिक जीवन की गहराई से अध्ययन की बहुत आवश्यकता है इससे इस समुदाय की समस्याओं को समझने व इनको राहत पहुंचाने के कार्य में मदद मिलेगी। अन्यथा एक बड़ी आबादी किसी प्रयास के अभाव में भूखों मरने या अपराध की ओर अग्रसर होगी।

असंगठित श्रमिक अधिकार मोर्चा हाशिए पर जीवन जी रहे इन मांझा कारीगरों को संगठित करने के लिए पिछले दो वर्षों से सक्रिय है। मोर्चा मांझा निर्माण में लगे कारीगरों के अधिकारों के लिए संगठित करने एवं सरकारी स्तर पर इनके लिए कल्याणकारी योजनाएं चलवाए जाने को लेकर प्रयासरत है।

अतीत, वर्तमान और भविष्य की वैज्ञानिक और जनवादी समझ बनाने के लिए पढ़ें-

संघर्ष चेतना का मुखर सहयोगी

फिलहाल

एम-46, रोड संख्या-2,
श्रीकृष्ण नगर, पटना-800001
फोन: 01612-2525813, 09472048408
ईमेल- filhalpatna@gmail.com

वैश्वीकरण के दौर में सामाजिक सुरक्षा आन्दोलन हमारे अस्तित्व की लड़ाई है

■ सुरेन्द्र प्रताप

वैश्वीकरण और उदारीकरण के विनाशकारी नरीजे जैसे-जैसे सतह पर प्रकट होते जा रहे हैं और जैसे-जैसे भविष्य की तस्वीर साफ होती जा रही है, सामाजिक सुरक्षा का सवाल, एक महत्वपूर्ण मुद्दे के रूप में उभरकर सामने आ रहा है। यह न सिर्फ जनआन्दोलनों में एक महत्वपूर्ण सवाल बनकर उभर रहा है बल्कि राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय सत्ता केन्द्रों की नीतियों में भी एक महत्वपूर्ण मुद्दा बनकर उभरा है। हालांकि दोनों के लिये इसका महत्व अलग-अलग है। जनता के लिये तो यह अस्तित्व का संघर्ष है, जबकि सत्ता के लिये यह तूफानी जन-आन्दोलनों और जनबगावतों को रोकने या कम से कम उसे विरोधित करने का उपाय है। कुलमिलाकर वैश्वीकृत पूँजीवादी लूटतंत्र और उसकी संचालक बहुराष्ट्रीय कंपनियों के असली चरित्र को छुपाना, उन्हें लाभ पहुंचाना और जनता में पनप रहे आक्रोश पर पानी डालना ही उनका मंतव्य है। इसीलिये जनआन्दोलनों और राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय सत्ता केन्द्रों की सामाजिक सुरक्षा की समझ और धारणाएं भी अलग-अलग हैं। वर्तमान आर्थिक संकट से भहराती अर्थव्यवस्थाओं को उबारने के लिए राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय सत्ता केन्द्र सामाजिक सुरक्षा मद्दों में भारी कटौती करके करोड़ों डालर की मदद उन्हीं दैत्याकार बैंकों को दे रहे हैं जो असलियत में इन संकटों को पैदा करने के लिए जिम्मेदार हैं। यूरोप में वर्तमान जनआन्दोलनों का विस्फोट इन्हीं सवालों को लेकर हुआ है। इससे भी जहां एक तरफ जनआन्दोलनों में सामाजिक सुरक्षा का सवाल एक महत्वपूर्ण सवाल बनकर उभर रहा है, वहीं दूसरी तरफ राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय सत्ता केन्द्रों के सामाजिक सुरक्षा प्रलाप की कलई खुलकर सामने आती है।

किसी भी सभ्य समाज का यही सबसे महत्वपूर्ण लक्षण हो सकता है कि उसमें सभी को कानूनी तौर पर और अमली तौर पर समाज के विकास के स्तर के अनुरूप एक

आर्थिक- राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के एक न्यूनतम स्तर की गारंटी उपलब्ध हो। और इसके साथ ही, समाज में हो रहे आर्थिक विकास के अनुरूप निरंतर आम जनता के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का भी विकास होता रहे, इसे सुनिश्चित करने के लिए उन्हें हर स्तर पर आर्थिक और राजनीतिक संवर्ष का अधिकार हो। यहां यह दोनों सवाल बराबर रूप में महत्वपूर्ण हैं। न्यूनतम स्तर की गारंटी का मतलब है एक आधार स्तर जिसका उल्लंघन किसी भी हालत में न किया जा सके और समाज के आर्थिक विकास के साथ-साथ यह आधार स्तर भी ऊपर बढ़ा जाए और आमजनता अपने आर्थिक और राजनीतिक संघर्षों से यह सुनिश्चित करती रहेगी। निश्चित तौर पर यह समाज के संसाधनों पर जनतांत्रिक नियंत्रण और समाज के विकास की जनतांत्रिक दिशा का सवाल है। इन दोनों सवालों को किस तरह और किस स्तर पर हल किया जाता है, यह उस समाज के सभ्य होने या न होने और सभ्य होते जाने या बर्बर होते जाने का लक्षण है। यहां हम कुछ उदाहरणों से यह देख सकते हैं कि किस तरह यहां विकास, सीमित अर्थ में ही सही, सभ्यता की दिशा में बढ़ रहा था और कैसे पूँजीवादी वैश्वीकरण के बाद यह बर्बरता की दिशा में मुड़ चुका है।

वैश्वीकरण से पहले देश के महत्वपूर्ण संसाधन सरकार या पब्लिक सेक्टर के हाथ में थे। सरकारें भले ही पूँजीवादी थीं और वे इन संसाधनों से पूँजीपतियों को लाभ पहुंचाती थीं, लेकिन वे इसे पूरी तरह पूँजीपतियों को नहीं सौंप सकती थीं, और जनसंघर्षों की ताकत एक हद तक ही सही इन पर आमजनता का नियंत्रण और इनका आमजनता के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के लिए इस्तेमाल सुनिश्चित करती थी। किसानों, गरीबों और छात्रों को विभिन्न तरह की समिक्षा और

आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में दलितों, आदिवासियों, पिछड़ों और महिलाओं को आरक्षण आदि को सभी के लिये आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का एक न्यूनतम आधार स्तर सुनिश्चित करने की दिशा में कदम के रूप में ही देखा जा सकता है। लेकिन वैश्वीकरण के बाद देश के संसाधनों का मालिकाना और नियंत्रण सीधे-सीधे देशी-विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथों में पहुंचता जा रहा है और सरकारें सीधे-सीधे उनकी एजेंट जैसी बनती जा रही हैं। इससे आम जनता के लिये आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का एक न्यूनतम आधार स्तर सुनिश्चित करने का सवाल ही विकास के एजेंट से गायब हो गया लगता है। देश के संसाधनों को पूँजीपतियों के हाथों में सौंपकर सरकार इसके लिये आर्थिक शक्ति खो चुकी है और पूँजीपतियों का एजेंट बनकर वह इसके लिये राजनीतिक इच्छाशक्ति भी खो चुकी है। हम यह देख सकते हैं कि किस तरह किसानों, गरीबों और छात्रों को मिलने वाली सारी समिक्षा खत्म होती जा रही है या कम होती जा रही है। विश्वव्यापार संघ के समझौतों पर हस्ताक्षर करने का मतलब ही है कि सरकारें इन समिक्षियों को खत्म ही करेंगी और आमजनता के लिये अगर कोई कल्याणकारी योजना बनाएंगी भी तो वह सिर्फ दिखावे के लिये ही होगी। हम यह भी देख सकते हैं कि उदारीकरण और निजीकरण के बाद किस तरह दलितों, आदिवासियों, पिछड़ों और महिलाओं को मिलने वाला आरक्षण एक मजाक बनकर रह गया है क्योंकि निजी उद्यम-संस्थान आरक्षण की नीति लागू करने के लिये तैयार ही नहीं हैं।

श्रम कानून भी मजदूरों को आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का एक न्यूनतम आधार स्तर सुनिश्चित करने का ही माध्यम रहे हैं। संगठित क्षेत्र के मजदूरों और खासकर पब्लिक सेक्टर और

सरकारी विभागों के कर्मियों की बेहतर कार्यदशाएं, बेहतर आर्थिक स्थिति और बेहतर सामूहिक सौदेबाजी की ताकत को इन श्रम कानूनों की मौजूदगी और अमल से ही जोड़कर देखा जा सकता है। वैश्वीकरण से पहले तीसरी दुनिया के लगभग सभी देशों में यह भी मजदूर आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण मुद्रा था कि असंगठित क्षेत्र के मजदूरों को भी सभी श्रम कानूनों के दायरे में लाया जाये। भारत के मजदूर आन्दोलन ने इस दिशा में दो महत्वपूर्ण सफलताएं अर्जित की थीं। 1976 से पहले नौकरी की सुरक्षा देने वाला और इसके चलते मजदूरों को अपने हकों के लिये बिना किसी भय के लड़ने की शक्ति प्रदान करने वाला औद्योगिक विवाद अधिनियम का भाग-5ब ऐसे उन्हीं औद्योगिक इकाइयों में लागू था जिसमें 300 या उससे अधिक मजदूर काम करते थे, 1976 में इसमें संशोधन करके इसे उन सभी इकाइयों में लागू कर दिया गया जिसमें 100 या अधिक मजदूर काम करते थे। इससे लाखों मजदूर इसके दायरे में आ गये। इसके अलावा, 1970 में ठेका मजदूर नियमन और उन्मूलन अधिनियम 1970 अस्तित्व में आया जिससे औद्योगिक इकाइयों में भारी संख्या में लगने वाले अनियमित मजदूरों को नियमित होने का अधिकार मिल गया। यानी इस कानून ने उन्हें भी नौकरी की सुरक्षा प्रदान की। यहां यह समझना जरूरी है कि नौकरी की सुरक्षा सिर्फ नौकरी की सुरक्षा ही नहीं है बल्कि सभी कानूनी हकों के मिलने की गारंटी भी है। नौकरी की सुरक्षा होने से मजदूर यूनियन बनाकर बिना नौकरी खोने के भय के अपने हकों के लिये लड़ सकते हैं, श्रम कानूनों के उल्लंघन को रोक सकते हैं और नये हकों के लिये सामूहिक सौदेबाजी कर सकते हैं।

लेकिन पूंजीवादी वैश्वीकरण ने इस पहिए को भी उल्टी दिशा में घुमा दिया है। इस दौर में सबसे बड़ा हमला श्रम कानूनों पर ही हो रहा है। हाल यह हुआ कि मजदूर आन्दोलन जो पहले श्रम कानूनों को और बेहतर बनाने और भारी संख्या में असंगठित क्षेत्र के मजदूरों को भी उसके दायरे में लाने के लिये संघर्ष कर रहा था, वैश्वीकरण के

दौर में उसकी सारी ताकत मौजूदा श्रम कानूनों को बचाने के लिये संघर्ष में लग गयी। उधर, उद्योगों में उत्पादन और प्रबंधन की नयी तकनीकों ने उसकी ताकत को कम कर दिया, बिखरे दिया और धीरे-धीरे कार्यस्थलों पर ट्रेड यूनियनों को बेहद कमजोर या निष्प्रभावी बना दिया। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि देश के मजदूर आन्दोलन ने श्रम कानूनों के संशोधन के प्रयासों को तो निष्फल कर दिया लेकिन श्रम कानूनों का लागू होना सुनिश्चित करने की अपनी ताकत खो दी। ऐश्या के अधिकांश देशों में ऐसी ही स्थितियां देखने को मिलती हैं। इन्हीं स्थितियों का फायदा उठाकर सरकारों ने श्रम कानूनों में संशोधन न कर पाने के बावजूद उन्हें अमल में लगभग न होने के बराबर बना दिया है। श्रम कानूनों का पालन सुनिश्चित करने वाली राज्य मशीनरी को पंगु बना दिया गया है और उद्योगों में धड़ल्लै से श्रम कानूनों का उल्लंघन हो रहा है। यूनियन बनाने का कानून तो वही है लेकिन यूनियन बनने ही नहीं दी जाती। अदालतों से पिछले कुछ दशकों में शायद ही कोई फैसला मजदूरों के हक में हुआ हो। ठेका श्रम के उन्मूलन का कानून तो वही है, लेकिन अदालतों ने उसकी नयी परिभाषा कुछ इस तरह दी है कि अनियमित मजदूरों के नियमितीकरण का अधिकार खत्म ही हो गया है। उद्योगों में अब नियमित मजदूरों को निकालकर अब बहुलांश में, और, कहीं कहीं तो पूरी तरह, ठेका मजदूरों से ही काम लिया जा रहा है और उन्हें नियमित मजदूरों से आधी मजदूरी ही दी जाती है। इसके अलावा सैकड़ों की संख्या में विशालकाय क्षेत्रों में स्पेशल इकोनामिक जोन स्थापित किये जा रहे हैं और वहां पर श्रम कानूनों में इस तरह की छूट और ऐसी व्यवस्था दी गयी है कि उनका वहां मतलब ही नहीं रह गया है। ऐसी ही व्यवस्था सैकड़ों की संख्या में प्रस्तावित न्यू मैन्यूफैकरिंग इन्वेस्टमेंट जोनों में भी होने वाली है। कुलमिलाकर बिना संशोधन के ही सत्ता ने श्रमकानूनों को काफी हद तक निष्प्रभावी बना दिया है और संगठित क्षेत्र के भी बहुत ही कम मजदूरों

को श्रम कानूनों का लाभ मिल पाता है।

यह जानना जरूरी है कि यह सब अनायास ही नहीं है, विदेशी निवेश और निर्यात आधारित विकास की नीतियों का यह अभिन्न अंग है। तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में अधिक से अधिक विदेशी निवेश को आमंत्रित करने और विकसित देशों में अपने माल को अधिक से अधिक निर्यात करने की होड़ मची हुई है और अन्ततः यह होड़ यही रूप ले लेती है कि कौन अपने देश के मजदूरों का गला दबाने में दूसरे से आगे निकल जाता है। जो भी देश श्रम को आदिक सस्ता कर सकता है और अधिक नियंत्रित कर सकता है वही विदेशी पूंजी को आदिक मुनाफे की गारंटी दे सकता है। जो देश श्रम को जितना ही सस्ता कर सकता है वही औरों से सस्ता माल बनाकर निर्यात का अधिक आईर पा सकता है।

1960 और सत्तर के दशक में तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में सशक्त किसान आन्दोलनों के दबाव में किसी न किसी मात्ररूप में भूमि सुधार के कार्यक्रम लागू किये गये और काफी संख्या में भूमिहीनों को जीविका के लिये जमीनें मिलीं। इसके साथ ही जहां एक तरफ उन्हें खेती की लागतों और रोजाना की जरूरतों जैसे मिट्टी का तेल, चीनी, कपड़े और अनाज पर सब्सिडी का भी अधिकार मिला, वहीं दूसरी तरफ उनकी पैदावार की सरकारी खरीद की सुविधा भी मिली। इससे उनके जीवन का पूरी तरह कायाकल्प तो नहीं हो गया लेकिन हालात निश्चित तौर पर बेहतर हुए। इसका सबसे अधिक महत्व इस बात में है कि उस दौर में कम से कम किसी भी स्तर पर आमजनता के विकास का सवाल भी आर्थिक विकास की नीतियों में शामिल था। लेकिन वैश्वीकरण के बाद यह सवाल आर्थिक विकास की नीतियों से लगभग पूरी तरह गायब हो गया है। बड़े पैमाने पर किसानों को उजाइकर खेती की जरीनों और अन्य प्राकृतिक संसाधनों पर उद्योगपतियों के कब्जे के लिये मची होड़ में यह सवाल सबसे अधिक तीखे रूप में अभियक्त होता है। इसमें उन आदिवासियों, दलितों, पिछड़ों और अन्य जातियों के गरीबों

से जीविका के साधनों के साथ-साथ अन्य सुविधाएं भी छीन ली गयी हैं जो उन्हें प्रकृति से उपलब्ध थीं। उदाहरण के तौर पर पानी के स्रोत, जानवरों को चराने के लिये चरागाह, ईधन की लकड़ी के लिये जंगल और बाग, और सबसे महत्वपूर्ण उनका अपना सामाजिक और सांस्कृतिक अस्तित्व। दूसरी तरफ जो किसान के रूप में बचे रह गये हैं उनकी जिन्दगी भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथ गिरवी रख दी गयी है और यह सबसे अद्याक तीखे रूप में इस तथ्य में दिखाई देता है कि उन्हें इन कंपनियों से बीज खरीदने को मजबूर कर दिया गया है। सभी लागतों के दाम आसमान छू रहे हैं और पहले दी जाने वाली सब्सिडी लगभग खत्म ही कर दी गयी है। अब तो हाल ऐसा हो रहा है कि गरीब किसान बढ़ती लागतों के चलते खेती नहीं कर पा रहे हैं और कहीं-कहीं तो वे अपनी जर्मीन अर्मीर किसानों को बटाई पर देने को मजबूर हो रहे हैं।

नयी विश्व व्यवस्था में अब खासकर आर्थिक मामलों में राष्ट्रीय नियमन को खत्म करके अन्तरराष्ट्रीय नियमन को स्थापित किया जा रहा है। अब अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्वबैंक और विश्व व्यापार संघ आर्थिक नीतियां तय कर रहे हैं और इन्हें सभी देशों को लागू करना होता है। यह भी समझने की बात है कि ये संस्थाएं कोई स्वतंत्र और निरपेक्ष संस्थाएं नहीं हैं यह पर्दे के पीछे से सात बड़े देशों की सत्ताओं और विश्व आर्थिक फोरम, ट्राई लैटरल कमीशन, इन्टरनेशनल चैम्बर आफ कार्मस आदि के माध्यम से इन देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा ही संचालित होती हैं। खासकर तीसरी दुनिया के देश जब कभी भी इन नीतियों का उल्लंघन करने की कोशिश करते हैं तो उन्हें सीधे-सीधे इन्हीं के कोप का सामना करना पड़ता है। इसके अलावा अब जो क्षेत्रीय मुक्त व्यापार क्षेत्र बन रहे हैं, उदाहरण के तौर पर आसियान, सार्क आदि, ये भी क्षेत्रीय स्तर पर नीति निर्धारण कर रहे हैं या करने जा रहे हैं। इनमें शामिल देश इन संस्थाओं द्वारा निर्धारित नीतियों का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं यानी राष्ट्रीय स्तर पर उनका उल्लंघन करके कोई नीति नहीं

बना सकते हैं। इस हालात में दरअसल राष्ट्रीय स्तर पर नीति निर्धारण की ताकत राष्ट्रीय सरकारों से काफी हद तक छिन चुकी है। इसे सबसे अच्छी तरह इस तथ्य में देखा जा सकता है कि विश्व व्यापार संघ के समझौतों पर हस्ताश्वर करने के बाद राष्ट्रीय सरकारों ऐसी कोई नीति या योजना पर अमल कर ही नहीं सकती हैं जो विश्व व्यापार संघ के समझौतों का उल्लंघन करती हो। और यदि गहराई से देखा जाय तो दरअसल कोई सच्ची जनकल्याणकारी योजना विश्व व्यापार संघ के समझौतों का उल्लंघन किये बिना बनायी ही नहीं जा सकती है। महत्वपूर्ण बात यह भी है कि ये अन्तरराष्ट्रीय या क्षेत्रीय संस्थाएं राष्ट्रीय स्तर पर नियमन को खत्म कर रही हैं लेकिन वे अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर जो नियमन कर रही हैं वह सिर्फ पूँजी के हक में-पूँजीनिवेश और मुक्त व्यापार के हक में। आम जन और श्रमिकों के हक में कोई अन्तरराष्ट्रीय नियमन नहीं किया जा रहा है जिसे सभी राष्ट्र लागू करने को मजबूर हैं। इस दिशा में जो किया जा रहा है वह है संयुक्त राष्ट्र और आईएलओ जैसी अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं के प्रस्ताव, जिन्हें मानना या न मानना राष्ट्रों पर निर्भर करता है। ये संस्थाएं सिर्फ भौंकती हैं, काटती कभी नहीं और इस लिये अधिकांश राष्ट्र उनके प्रस्तावों को रेटीफाई ही नहीं करते और रेटीफाई करते भी हैं तो उन्हें लागू नहीं करते, क्योंकि इस मामले में उन्हें अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं या उनके आकाऊं से किसी प्रतिवंध का खतरा नहीं होता है।

इन हालात में दरअसल लोकतंत्र भी एक मजाक बनता जा रहा है। राष्ट्रीय स्तर पर जनता अपनी सरकार का चुनाव तो कर सकती है लेकिन उसकी वह सरकार जनता के हक में कोई आर्थिक नीति ही नहीं बना सकती है। जहां नीतियां दरअसल बन रही हैं और जो नीतियां बना रहे हैं वे इतनी दूर बैठे हैं कि जनता की उन तक पहुँच ही नहीं है और राष्ट्रीय स्तर पर जनआन्दोलन उसे प्रभावित नहीं कर पाते हैं। दूसरी तरफ, क्योंकि राष्ट्रीय सरकारें उन नीतियों को बदलने की ताकत नहीं रखती हैं और जनांदोलनों की मांग पूरी करने की क्षमता नहीं रखती

हैं, इसलिये वे बर्बादी से जनांदोलनों का दमन करने की कोशिश करती हैं। ऐसी हालात में ऐसा सशक्त आन्दोलन ही राष्ट्रीय सरकारों को जनता के हक में निर्णय लेने को मजबूर कर पाता है जो कोई गंभीर राजनीतिक संकट खड़ा कर दे। या फिर ऐसी राष्ट्रीय सरकार हो जिसमें जनता के हक में खड़े होने की ऐसी इच्छाशक्ति हो कि वह अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं की नीतियों का उल्लंघन करने की हिम्मत जुटा सके।

अब हम आमजनता पर वैश्वीकरण के प्रभावों पर गौर करें। वैश्वीकरण ने जिन सबसे बड़ी समस्याओं को जन्म दिया है वे हैं बेरोजगारी, महंगाई, बीमारियां, प्राकृतिक आपदाएं और जानलेवा प्रदूषण। यह कोई अनजाने में पैदा की गयी समस्याएं नहीं हैं, बल्कि यह वैश्वीकरण के दौर में मुनाफा कमाने की रणनीति का हिस्सा है। उदाहरण के तौर पर, बेरोजगारों की एक बड़ी फौज बनाए रखना नये जमाने की पूँजीवादी लूट की रणनीति है। और पूँजी के कभी भी, कहीं भी भाग जाने की स्वतंत्रता उसके लिये विश्व के पैमाने पर पैदा हुई बेरोजगारों की फौज का शोषण करने का मौका देती है। खतरनाक रूप से प्रदूषणकारी उद्योगों को तीसरी दुनिया में भेजना भी इस नये जमाने की पूँजीवादी रणनीति का हिस्सा है। इन समस्याओं से ब्रह्म हमारे देश की नव्वे फीसदी आवादी किन भीषण स्थितियों में जीने को मजबूर हो रही है इसे बताने की जरूरत नहीं है।

स्थितियां इतनी विस्कोटक हो चुकी हैं कि राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय सत्ताकेन्द्रों को सामाजिक सुरक्षा के मुद्रे पर तरह-तरह की पहलकदमियां लेने को मजबूर होना पड़ा। हालांकि यह सारी पहलकदमियां निश्चित तौर पर समस्या के समाधान के लिये नहीं बल्कि इससे पैदा हो रहे जनांदोलन को ठंडा करने की दिशा में केन्द्रित रही हैं। उदाहरण के तौर पर संयुक्त राष्ट्र का यूएन सोशल प्रोटेक्शन फ्लोर और आईएलओ का नया सोशल सिक्योरिटी इनीशिएटिव। यहीं वह समय है जब कई देशों में जनांदोलनों में भी सामाजिक सुरक्षा का सवाल प्रमुखता से उठाया गया, उदाहरण के तौर पर आसियान देशों की ट्रेड यूनियनों

ने एक सामूहिक मंच बनाकर यह आन्दोलन शुरू किया है कि आसियान के ढांचे में सामाजिक सुरक्षा के मुद्रदे को भी जोड़ा जाये।

भारत में जैसा कि हमने पहले चर्चा की कि वैश्वीकरण से पहले मजदूर आन्दोलन यहां असंगठित मजदूरों को भी संगठित क्षेत्र में लाने और वही सामाजिक सुरक्षा उन्हें दिलवाने के लिये संघर्ष कर रहा था। लेकिन वैश्वीकरण के साथ ही संगठित क्षेत्र के श्रमिकों को मिलने वाली सामाजिक सुरक्षा भी खतरे में पड़ गयी। श्रम कानूनों का संशोधन भले ही न हो सका लेकिन संगठित क्षेत्र के श्रमिकों यानी बेहतर सामाजिक सुरक्षा पाने वाले श्रमिकों का दायरा बुरी तरह सिमट गया और संगठित क्षेत्र में भी भारी संख्या में असंगठित क्षेत्र का प्रवेश हो गया यानी संगठित क्षेत्र में बड़े पैमाने पर श्रम का ठेकाकरण हो गया और भारी संख्या में मजदूरों से सामाजिक सुरक्षा छिन गयी। उधर सरकार आनन-फानन में एक प्रस्ताव भी लेकर सामने आ गयी कि असंगठित श्रमिकों के लिये सामाजिक सुरक्षा का अलग तंत्र बनाया जाए। यह दरअसल श्रम का पूरी तरह ठेकाकरण करने की रणनीति का हिस्सा और इस रणनीति की अमानवीयता को ढकने का एक प्रयास था। बहुत सारे एनजीओ ने तरह-तरह के किंतु-परंतु के साथ इसका समर्थन किया। ट्रेड यूनियनों ने शुरू में इसका समर्थन नहीं किया लेकिन बाद में चुपचाप स्वीकार कर लिया। और अंततः असंगठित श्रमिक सामाजिक सुरक्षा कानून 2010 अस्तित्व में आ गया। यह कानून दरअसल बस एक कागजी कानून है। इसमें नया कुछ नहीं, बस पहले से ही असंगठित क्षेत्र के लिये बनी 10 योजनाओं को एक साथ रख दिया गया है, उदाहरण के तौर पर ईंदिरा गांधी राष्ट्रीय व वृद्धावस्था पेंशन योजना, जननी सुरक्षा योजना, राष्ट्रीय पारिवारिक लाभ योजना, आम आदमी बीमा योजना, राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना और हैंडलूम, हैंडीक्राफ्ट व मछुआरों के लिये बनीं कुछ योजनाएं। सबसे मजेदार बात यह है कि यह कानून सभी असंगठित मजदूरों के लिये नहीं है। इसका लाभ भी उन्हें ही मिल सकता है जो गरीबी रेखा के नीचे हैं और यह सभी जानते हैं कि हमारे देश में गरीब होना और गरीबी रेखा में दर्ज होना दोनों अलग-अलग बातें हैं। और सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि इसने असंगठित क्षेत्र के मजदूरों को भी आपस में बांट दिया। गरीबी रेखा के नीचे और ऊपर। इसके अलावा असंगठित क्षेत्र के मजदूरों को कैसे इस कानून का लाभ लेने के लिये दर्ज किया जाएगा और उन्हें कितना और कैसे लाभ मिलेगा यह सब कुछ भी स्पष्ट नहीं है। अभी तक यह भी पता नहीं है कि इसके लिये फंड कहां से आयेगा।

लेकिन इसके बावजूद सरकार ने कानून बनाकर यह प्रचार जोरों से कर लिया कि उसने असंगठित मजदूरों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान कर दी और यह कि श्रम के बढ़ते ठेकाकरण से मजदूरों पर असर नहीं पड़ेगा। उधर आइएलओ और संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस कानून की प्रशंसा भी कर दी है। इस कानून के तहत बने बोर्ड में जानबूझकर ट्रेड यूनियनों को शामिल नहीं किया गया है, इसलिये पंगे का भी कोई डर नहीं। आइएलओ और संयुक्त राष्ट्र संघ ने भारत की राष्ट्रीय व वृद्धावस्था पेंशन योजना की भी खासी सराहना की है। यह पेंशन योजना भी सिर्फ उन्हें गरीबों व वृद्धों के लिये है जो अपने को गरीबी रेखा में दर्ज करने में कामयाब हो गये हैं। ऐसी योजना की प्रशंसा करना कितना शर्मनाक है जिसमें असहाय गरीब व वृद्धों को 500 रुपए माहवार देकर, जो दस दिन के भोजन का भी खर्च नहीं है, उनका मजाक उड़ाया जाता है।

समाजिक सुरक्षा के ये कानून और योजनाएं इस बात का नंगा उदाहरण हैं कि किस तरह राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता-केन्द्र असलियत में कुछ करने के बजाय कुछ करते हुए दिखाई देने की रणनीति पर चल रहे हैं। असंगठित मजदूरों के लिये सामाजिक सुरक्षा के नाम पर भारत में बनी योजनाओं-कानूनों में से बस एक ही ऐसा है जो सकारात्मक दिशा में उठा एक कदम माना जा सकता है - नरेगा, आधी-अधूरी रोजगार गारंटी। लेकिन काफी संख्या में हुए अध्ययनों में यह खुलासा हो चुका है कि किस तरह खुद सरकार ने ही इसे पंगु बना

रखा है। इस योजना को दिया गया बजट इतना कम है कि उसमें यह योजना चल ही नहीं सकती है और इसे छुपाने के लिये सरकार भ्रष्टाचार को बढ़ावा देती है और फिर योजना के सही रूप से न चल पाने के लिये उसी को दोष दे देती है।

इससे यह स्पष्ट है कि सामाजिक सुरक्षा की ये योजनाएं और कानून जनांदोलनों की सामाजिक सुरक्षा की अवधारणा और मांगों को पूरा नहीं करते हैं।

सबसे पहली बात है कि सामाजिक सुरक्षा सबके लिये होनी चाहिए और इसका एक एकीकृत ढांचा और एकीकृत व्यवस्था होनी चाहिए। यह संगठित-असंगठित या गरीबी रेखा के नीचे-ऊपर के मजदूरों के लिये अलग-अलग ढांचा और अलग-अलग व्यवस्था नहीं होनी चाहिए।

दूसरी बात, सामाजिक सुरक्षा की अवधारणा का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यह खेरात नहीं बल्कि आमजनता का बुनियादी अधिकार है और राज्यसत्ता की बुनियादी जिम्मेदारी। शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, आर्थिक सक्रियता यानी रोजगार और किसी भी आपदा से सुरक्षा सभी के लिए सुनिश्चित करना राज्यसत्ता की ही जिम्मेदारी है। यह देश के संसाधनों के जनतांत्रिक प्रबंधन के सवाल से जुड़ा हुआ है। यदि कोई राज्यसत्ता इस जिम्मेदारी को नहीं निभाती तो उसके होने का कोई मतलब ही नहीं रह जाता।

इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए सबसे बेहतर तरीके से सामाजिक सुरक्षा तभी लागू की जा सकती है जब कम से कम शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास और कुछ अन्य महत्वपूर्ण उद्योगों का पूरी तरह राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय और हर सेक्टर में हर स्तर पर रोजगार का नियमन पूरी तरह सरकार के हाथ में हो। लेकिन आज के समय में यह एक दूरगामी सवाल बन गया लगता है। आज की परिस्थितियों में जनांदोलनों में जिस सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था की मांग उठ रही है और जो संभवतः आज के समय के लिये उचित, जीती जा सकने वाली और पूरी आबादी को एक साथ खड़ाकर जन-आंदोलनों को अगली मंजिल में तो जा सकने वाली मांगें

हैं, हम उनके कुछ पहलुओं को समेटकर यहां एक ढाँचे में प्रस्तुत करने की कोशिश करेंगे।

सामाजिक सुरक्षा के दो हिस्से हैं: बुनियादी सामाजिक सुरक्षा और संकटकालीन सामाजिक सुरक्षा। **अधिकांशतः राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता केन्द्र सिर्फ संकटकालीन सामाजिक सुरक्षा की बात करते हैं और बुनियादी सामाजिक सुरक्षा को नजर रखते हैं।** जबकि बुनियादी सामाजिक सुरक्षा की बात न करने का मतलब दरअसल सामाजिक सुरक्षा को ही नकारना है और प्रकारांतर से यह मानने को मजबूर करना है कि संकटों को आने से रोका नहीं जा सकता है और न उनकी आवर्तिता को कम किया जा सकता है।

1. बुनियादी सामाजिक सुरक्षा

वैश्वीकरण के इस दौर में जबकि अधिकांश संसाधनों को देशी-विदेशी निजी पूँजीपतियों के हाथों में सौंपा जा रहा है, बुनियादी सामाजिक सुरक्षा का अधिकांश भार भी उन्हीं पर डाला जाना चाहिए। सभी को बुनियादी सामाजिक सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिये एक बुनियादी सामाजिक सुरक्षा कोष बनाया जाना चाहिए और इसके लिये कुल जरूरी धन का 75 फीसदी प्रगामी कर के द्वारा उद्योगपतियों-व्यापारियों से वसूला जाना चाहिए और 25 फीसदी सरकार की ओर से- यानी जनता से वसूले गये कर से, लगाया जाना चाहिए। यह कोष एक ऐसे बोर्ड के नियंत्रण में होना चाहिए जिसमें ट्रेड यूनियनों, किसान संगठनों, छात्र संगठनों, सरकार और उद्यमियों के संगठनों के प्रतिनिधि शामिल हों। बुनियादी सामाजिक सुरक्षा निम्नलिखित पहलुओं पर कंड्रित होनी चाहिए:

i. राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी: सरकार ने एक राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी घोषित की है तेकिन दरअसल इसे मनमाने तरीके से निर्धारित कर दिया जाता है और हर साल बढ़ा हुई महंगाई को ध्यान में रखते हुए कुछ बढ़ा दिया जाता है। न्यूनतम मजदूरी और गरीबी रेखा, दोनों को निर्धारित करने के सवाल पर जिन दो महत्वपूर्ण कारकों को सिद्धांतः स्वीकार किया जाता है वे हैं मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरी करने के लिये न्यूनतम आवश्यकताएं, और आर्थिक

व सामाजिक विकास के साथ इन न्यूनतम आवश्यकताओं का बढ़ते जाना। लेकिन अमली तौर पर इन सिद्धांतों को दरकिनार कर सिर्फ महंगाई को ध्यान में रखकर हर साल इसमें कुछ झाफा कर दिया जाता है। दरअसल न्यूनतम मजदूरी का सवाल जनतांत्रिक आर्थिक विकास का सवाल है और विकास के फलों में आमजनता की हिस्सेदारी का सवाल है। न्यूनतम मजदूरी तय करने की कोई पारदर्शी व्यवस्था और कोई पारदर्शी तरीका न होने से यह सवाल पूरी तरह ढक जाता है और यह इस तरह सामने आता है जैसे यह सिर्फ मजदूरों के जिन्दा रहने का सवाल है। न्यूनतम मजदूरी तय करने की कोई पारदर्शी व्यवस्था न होने से सामाजिक सुरक्षा का सवाल भी खेरात के रूप में या अधिक से अधिक गरीबों-मजदूरों के जिन्दा रहने के हक के रूप में सामने आता है और मनमाने तरीके से इसे निर्धारित कर दिया जाता है, जबकि यह भी जनतांत्रिक आर्थिक विकास का और विकास के फलों में आमजनता की हिस्सेदारी का ही सवाल है। इसे पूरे सवाल को खोलने के लिये सबसे पहले हमें न्यूनतम मजदूरी को ही समझना होगा और इसे निर्धारित करने की एक पारदर्शी व्यवस्था बनाने की बात करनी होगी।

न्यूनतम मजदूरी तय करने के सवाल पर हमें सबसे पहले इस कारक को समझना चाहिए कि यह समाज के विकास के वर्तमान स्तर के अनुसार हमारे श्रम का न्यूनतम मूल्य है। इसलिये इसमें दो चीजें शामिल होनी चाहिए: आर्थिक सामाजिक विकास के स्तर के अनुरूप मनुष्य की आवश्यकताएं और विशिष्ट परिस्थितियों में विशिष्ट काम-श्रम का संपादन करने संबंधी आवश्यकताएं। इसलिये न्यूनतम मजदूरी को दो हिस्सों में बांटना जरूरी है: बेसिक न्यूनतम मजदूरी और कार्यजनित मजदूरी। इससे यह सवाल भी खुल जाता है कि गरीबी रेखा और न्यूनतम मजदूरी के बीच क्या संबंध है, और यह कि न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण कैसे हो और सिर्फ सामाजिक सुरक्षा के सहारे जीने वाले लोगों को कितनी आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए।

ii. बेसिक न्यूनतम मजदूरी: स्पष्ट है कि

बेसिक न्यूनतम मजदूरी आर्थिक सामाजिक विकास के स्तर के अनुरूप मनुष्य की आवश्यकताओं से तय होती है और इसलिये कम से कम निम्नलिखित आवश्यकताओं को शामिल किया जाना चाहिए:

- भोजन, ईश्वन, पानी और सफाई, कपड़े, रोशनी आदि पर पांच सदस्यीय परिवार का खर्च
- शिक्षा पर परिवार का खर्च
- स्वास्थ्य पर परिवार का खर्च
- मनोरंजन, त्यौहार, शादी व्याह पर परिवार का खर्च
- सामाजिक मेल जोल व जरूरतों के लिये यात्रा व फोन आदि पर परिवार का खर्च
- मकान का किराया या अपने मकान के रिपेयर आदि का खर्च
- जच्चा-बच्चा पर खर्च
- महंगाई भत्ता
- **उत्पादकता बोनस:** बेसिक न्यूनतम मजदूरी आर्थिक सामाजिक विकास के स्तर के अनुरूप मनुष्य की आवश्यकताओं से तय होती है, इसलिये सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि के अनुरूप बेसिक न्यूनतम मजदूरी में भी वृद्धि होनी चाहिए। इसके साथ ही बेसिक न्यूनतम मजदूरी किसी भी हालत में राष्ट्रीय औसत मजदूरी की 50 फीसदी से कम नहीं होनी चाहिए

iii. कार्यजनित मजदूरी:

- कार्य की जटिलता और कठिनता के आधार पर विशिष्ट कार्यों की विशिष्ट बोनस मजदूरी
 - कार्यस्थल पर आने-जाने के लिये अतिरिक्त यात्रा व्यय
 - काम के कपड़ों और उनकी धुलाई का खर्च
 - कार्यदिवस पर लंबे और नाश्ता-चाय
 - भविष्यनिधि के लिये किश्त
 - रोजगार में होने के दौरान होने वाली दुर्घटना सबंधी बीमा की किश्त
- इससे यह स्पष्ट है यदि कोई भी इंसान, चाहे वह सिर्फ सामाजिक सुरक्षा के सहारे जिन्दा हो, उसे बेसिक न्यूनतम मजदूरी से नीचे जीवन जीने पर मजबूर नहीं किया जा सकता। ऐसा करना उसे इंसान न मानने के बराबर है। इसलिये इसे राज्यसत्ता का अपराध माना जाना चाहिए और इसके लिये जिम्मेदार आदिकारियों के लिये कठोर दंड का प्रावधान

किया जाना चाहिए।

2. जिला स्तर पर मजदूरों का पंजीयन और रोजगार का नियमन:

भारी पैमाने पर श्रम के ठेकाकरण और अनौपचारिकरण की इस स्थिति में किसी न किसी स्तर पर मजदूरों के पंजीकरण और रोजगार के नियमन की प्रभावी व्यवस्था के बिना उनके कल्याण के लिये बनी योजनाओं और कानूनों का लाभ भी उन्हें नहीं दिलाया जा सकता है। इसका एक प्रभावी तरीका यह हो सकता है कि जिला स्तर पर सभी मजदूरों का पंजीकरण किया जाय। इसके लिये सरकार, ट्रेड्यूनियनों और नियोक्ताओं के संगठनों को शामिल करके एम्प्लायमेंट एक्सचेंज की तरह की एक अलग संस्था गठित की जाय और इस संस्था के माध्यम से ही मजदूरों को विभिन्न उद्योगों में और यहां तक कि फुटकर कामों में भी जहां कहीं मांग हो उन्हें भेजा जाय। इस संस्था को बेसिक सामाजिक सुरक्षा कोष के साथ जोड़ा जाना चाहिए और इस कोष की राष्ट्रीय ढांचे की बुनियाद भी जिला स्तर पर होनी चाहिए। इससे जहां एक तरफ, बेरोजगारी और श्रम संबंधी अन्य समस्याओं का ठीक-ठीक आकलन किया जा सकेगा, वहीं दूसरी तरफ इन समस्याओं के समाधान के प्रभावी उपाय निकालना और मजदूरों को विभिन्न योजनाओं का लाभ पहुंचाना भी आसान होगा। यह संस्था मजदूरों में तकनीकी दक्षता और अन्य कौशल विकसित करने का एक प्रभावी माध्यम भी बन सकती है। इस संस्था में मजदूरों का पंजीकरण सेक्टरवार भी किया जा सकता है और बुनियादी सामाजिक सुरक्षा कोष को सेक्टर वार भी संगठित किया जा सकता है।

3. रोजगार का बुनियादी और कानूनी अधिकार:

रोजगार को सभी के लिये बुनियादी और कानूनी अधिकार का दर्जा दिया जाना चाहिए और जिन्हें भी व जब तक रोजगार हासिल न हो सके, बेरोजगारी भत्ता दिया जाना चाहिए। बेरोजगारी भत्ता बेसिक न्यूनतम मजदूरी के बराबर होना चाहिए।

4. गांव के भूमिहीन मजदूरों को जीविका के लिए जमीन उपलब्ध कराने, खेती की

जोतों के औसत आकार को बढ़ाने और लाभकारी बनाने के लिये भूमि सुधार किया जाय। इसके साथ ही आदिवासियों के जंगल पर अधिकार को विस्तारित अर्थों में पूरी मान्यता देने के साथ ही उन जमीनों पर उन्हें व्यक्तिगत मालिकाना हक दिया जाय जिनपर वे खेती करते आ रहे हैं।

5. छोटे व मझोले किसानों तथा अन्य पारंपरिक पेशों में स्वरोजगार में लगे लोगों को कम दाम पर लागतों की आपूर्ति की व्यवस्था।

6. किसानों के क्षेत्र में उद्योगों को पानी लेने से रोका जाय और सिंचाई व्यवस्था के विकास पर विशेष जोर दिया जाये।

7. सब्सिडाइज्ड शिक्षा, स्वास्थ्य, पानी व सफाई, ईधन, बिजली तथा आवास को सभी के बुनियादी और कानूनी अधिकार का दर्जा

8. प्राकृतिक आपदाओं और प्रदूषण से सुरक्षा को बुनियादी और कानूनी अधिकार का दर्जा दिया जाये।

9. बिना पेंशन के रिटायर हुए वृद्धों जिनके पास आमदनी का अन्य कोई स्रोत न हो, और आर्थिक रूप से निष्क्रिय विकलांगों को पेंशन। पेंशन कभी भी बेसिक न्यूनतम मजदूरी से कम नहीं होनी चाहिए।

10. सभी महिलाओं को मातृत्व लाभ। जो रोजगार में हैं उन्हें पूरे वेतन व अस्पताल खर्च के साथ छह माह का अवकाश और जो रोजगार में नहीं हैं या अनियमित रोजगार में हैं उन्हें छह माह की बेसिक न्यूनतम मजदूरी और अस्पताल खर्च।

संकट कालीन सामाजिक सुरक्षा:

संकटों-आपदाओं के समय सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध कराने के लिये भी राष्ट्रीय स्तर पर एक संकटकालीन सामाजिक सुरक्षा कोष बनाया जाना चाहिए और इसके ढांचे की बुनियाद भी जिला स्तर पर होनी चाहिए। इस कोष को सेक्टरवार ही संगठित किया जाना चाहिए और विभिन्न सेक्टरों में विभिन्न संकटों, उदाहरण के तौर पर दुर्घटनाओं आदि की आवर्तिता के आधार पर उस सेक्टर के उद्यमियों पर प्रगामी कराधान और दुर्घटना के लिये जिम्मेदारी सरकार की होनी चाहिए और इसका पूरा खर्च उस योजना से, चाहे वह प्राइवेट हो या सरकारी, से आना चाहिए जिसकी वजह से यह विस्थापन व जीविका का विनाश हुआ है। संकटकालीन

परंपरागत व्यवसायों के लिये तथा प्राकृतिक आपदाओं के लिये बने संकटकालीन कोष की जरूरतों को सरकार को पूरा करना चाहिए। संकटकालीन सामाजिक सुरक्षा निम्नलिखित पहलुओं पर केन्द्रित होनी चाहिए:

■ **छंटनी, तालाबंदी आदि से पैदा हुई बेरोजगारी:** मुआवजे के रूप में मजदूरों को छह माह का वेतन। छह माह के बाद भी यदि मजदूरों को रोजगार नहीं मिल पाता है तो उन्हें वेसिक सामाजिक सुरक्षा का लाभ दिया जाय।

■ **रोजगार में रहने के दौरान किसी दुर्घटना का शिकार होने पर मजदूरों को अस्पताल आदि के खर्च के साथ तब तक पूरे वेतन के साथ अवकाश जबतक कि वे काम पर वापस न आ जायें। अगर वे इलाज के बाद भी काम के योग्य नहीं रह जाते हैं तो उन्हें बेसिक सामाजिक सुरक्षा का लाभ दिया जाय। अगर दुर्घटना के चलते उनकी मृत्यु हो जाती है तो उनके बच्चों की शिक्षा दीक्षा और उनके पूरे परिवार के भरणपोषण का खर्च तब तक इस कोष से उठाया जाय जब तक कि बच्चे रोजगार में न आ जायें। इसका पूरा खर्च विशेष क्षतिपूर्ति के रूप में संबंधित नियोक्ता से वसूला जाय।**

■ **प्राकृतिक या अन्य आपदाओं से किसानों की फसलों या अन्य पारंपरिक पेशों में लगे लोगों की जीविका या उनके उत्पादों की तवाही होने पर पीड़ितों को पर्याप्त मुआवजा जो न सिर्फ उनके ताल्कालिक नुकसान की भरपाई कर सके बल्कि उनकी जीविका को फिर से खड़ा कर सके।**

■ **विकास की योजनाओं को इस तरह बनाया जाये कि इससे लोगों की जीविका का विनाश न हो। और यदि मजबूरी बस ऐसा होता है तो उन सभी को पुनर्स्थापित करने और उन्हें मुआवजा और वैकल्पिक रोजगार देने के बाद ही भूमि अधिग्रहण किया जाय। यह पूरी जिम्मेदारी सरकार की होनी चाहिए और इसका पूरा खर्च उस योजना से, चाहे वह प्राइवेट हो या सरकारी, से आना चाहिए जिसकी वजह से यह विस्थापन व जीविका का विनाश हुआ है। संकटकालीन**

शेष पृष्ठ 37 पर...

दिल्ली के रिक्षा चालक

■ ओम प्रकाश

दिल्ली में, बस, मैट्रो, कार एवं ऑटो रिक्षा जैसे आवागमन के सार्वजनिक साधनों के बावजूद 2-4 कि.मी. तक की छोटी-मोटी दूरियों के लिए साइकिल रिक्षा सबसे सस्ता, सुलभ एवं सुरक्षित साधन के बतौर माना जाता है। खासकर उन लोगों के लिए जिनकी हैसियत, अपनी खुद की मोटर कार, स्कूटर या अन्य निजी वाहन रखने की नहीं है। कल्पना कीजिए कि आप के पास सामानों का गढ़ठर है और आपका घर किसी पॉश इलाके या मुख्य सड़क पर न होकर गली के अंदर है, तो घर तक पहुँचने के लिए आपको स्वाभाविक रूप से साइकिल रिक्षा ही याद आएगा क्योंकि ऑटो या अन्य साधन घर तक सामान पहुँचाने के पैसे ज्यादा मांगेंगे तथा उनको गली के अंदर जा पाने में कठिनाइयाँ होंगी। आमतौर पर निम्न-मध्य वर्ग आय समूह वाले लोग जिन बस्तियों या मुहल्लों में रहते हैं वहाँ की गलियाँ इनी संकरी होती हैं कि वहाँ साइकिल रिक्षा के अलावा अन्य सार्वजनिक वाहनों से जाने के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता, यह दिल्ली की एक कटु सच्चाई है।

गांवों में घटते रोजगार के अवसरों के चलते लोग तेजी से शहरों की तरफ भाग रहे हैं। शहरों में आबादी के घनत्व तेजी से बढ़ रहे हैं। ऐसे में भला दिल्ली कैसे बची रह सकती है। दिल्ली के आस-पास के राज्यों

उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, झारखण्ड, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, उत्तराखण्ड, मध्य प्रदेश आदि से रोजगार की तलाश में भारी तादाद में लोगों का आना-जाना जारी है। इसमें हर तरह के आय समूह के लोग हैं। मजदूर भी हैं तो पढ़े-लिखे बेरोजगार नौजवान भी। छोटे-मोटे काम धंधे या जीवन जी सकने का भ्रम पैदा करने वाली नौकरियाँ दिल्ली में मिल ही जाती हैं। एक वक्त छोले-कुल्चे के सहरे काट देनेवाले नवागंतुक शहरियों एवं निम्न-मध्य वर्ग के लोगों को अपने रोजगार के काम निबटाने हेतु डीटीसी की

बसों के अलावा साईकिल रिक्षा ही सुलभ आवागमन का साधन होता है। शायद यही कारण है कि आज दिल्ली में साइकिल रिक्षों की संख्या कई लाख तक पहुँच गई है। गैर-सरकारी अद्ययनों के मुताबिक यह संख्या 10 लाख से भी अधिक है। अर्थात् अकेले रिक्षों के माध्यम से कम से कम 10 लाख परिवारों का वर्ष में 4 से 5 महीने तक रोजी-रोटी की व्यवस्था चलती है। यदि प्रति रिक्षा चालक औसत 5 व्यक्तियों की पारिवारिक निर्भरता मानी जाये तो देश भर के 50 लाख लोग सीधे तौर पर दिल्ली के रिक्षों पर निर्भर हैं। इन रिक्षा चालकों में ज्यादातर सामयिक होते हैं, उनका परिवार गांव में ही रहता है। कुछ मामलों में, उनके पास धोड़ी बहुत खेती-वाड़ी होती है। खेती का काम खत्म होते ही ये लोग दिल्ली चले आते हैं और यहाँ पर अपने किसी परिचित के माध्यम से 20 से 30 रुपया रोजाना (8 घंटे) के किराये पर रिक्षा लेकर चलाने लगते हैं। जब कुछ पैसे की बचत हो जाती है तो वापस लौट जाते हैं। यह प्रक्रिया साल भर चलती रहती है। इस प्रकार ये रिक्षा कामगार न केवल दिल्ली की यातायात व्यवस्था को सुगम एवं सुचारू बनाये रखने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं बल्कि यहाँ से वापस लौट कर ग्रामीण अर्थव्यवस्था को गतिमान बना रहे हैं।

लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि रिक्षों की पैडल और अपने खुरुरे पैरों के बीच लगातार संघर्ष एवं हाड़-तोड़ परिश्रम कर देश के 50 लाख लोगों के पाणी पेट को भरने वाले इन कामगारों को बदले में पुलिस एवं एम.सी.डी. के अधिकारियों की अपमानित करने वाली गालियाँ मिलती हैं। सर्दी हो या गर्मी या फिर बरसात, रिक्षों के खटालों (जहाँ झुण्ड में रिक्षा रखे जाते हैं) पर फटी हुई तिरपालों या खुली आसमान के नीचे रात गुजार देनेवाले इन कामगारों की बेहतरी हेतु एम.सी.डी. या सरकार कभी

गंभीर नहीं दिखी। आज तक रिक्षों के मामले में कोई समग्र नीति नहीं बनाई जा सकी। जो नीतियाँ हैं भी, तो वो अपने मूल चरित्र में रिक्षा व उसके चालकों की विरोधी हैं। दरअसल ये नीति नहीं बल्कि एक तरह का तुगलकी फरमान हैं। इनमें दिल्ली में यातायात व्यवस्था को सुचारू बनाने के मकसद के बजाये, यहाँ से रिक्षों को खत्म करने के उद्देश्य पर जोर ज्यादा था। योजनाकारों ने रिक्षा नीति के माध्यम से शायद यह बात बताने की कोशिश की थी कि भविष्य में दिल्ली में कामगारों की जगह नहीं रहेगी।

यदि गौर करें तो मुख्य तौर पर तीन बातें हैं

1960 में दिल्ली में पहली बार बनाई गयी रिक्षा नीति में रिक्षों के लाइसेंस हेतु कोटे (संख्या) का निर्धारण हुआ। पहली रिक्षा नीति (1960 से 1975 तक) में यह बात कही गयी थी कि पूरी दिल्ली में महज 600 रिक्षों का लाइसेंस एम.सी.डी. द्वारा दिया जायेगा। हालांकि आम जनता में इसकी मांग को देखते हुए यह संख्या बाद में बढ़ाकर 750 कर दी गयी। 1975 में एम.सी.डी. ने साइकिल रिक्षों के मामले में एक सर्वे करवाया और पाया कि यातायात को व्यवस्थित व सुचारू बनाने में रिक्षों की भूमिका काफी अहम और सकारात्मक है। जनता में इसकी लोकप्रियता को देखते हुए एम.सी.डी. को अपनी पुरानी नीति की समीक्षा करनी पड़ी तथा 1976 में लाइसेंस जारी करने का कोटा बढ़ाकर 20000 कर दिया गया। निर्धारित कोटा 1993 तक जारी रहा। बढ़ती हुई आबादी के अनुपात में यह संख्या कहीं से भी तर्क संगत नहीं थी। मजेदार बात यह है कि कार, स्कूटर, या अन्य वाहनों के लाइसेंस जारी करने की कोई उच्चतम संख्या सीमा निर्धारित नहीं की गयी। लेकिन आम आदमी, छोटे-मोटे कर्मचारियों, निम्न वर्गों के लोगों में लोकप्रिय

रिक्शों की उच्चतम संख्या न केवल निधारित थी बल्कि उसका उल्लंघन करने वालों पर भारी जुर्माना तय था।

'राजधानी रिक्शा चालक ऑपरेटर्स' ने जब एम.सी.डी. की इस जन विरोधी लाइसेंस कोटा नीति के खिलाफ माननीय न्यायालय का दरवाजा खटखटाया तो 1998 में लाइसेंस देने की उच्चतम सीमा संख्या बढ़ाकर 99,000 कर दी गयी। हालांकि इस उच्चतम सीमा संख्या को भी सन् 2010 में उच्च न्यायालय ने असंवैधनिक घोषित कर दिया।

दूसरी बात जो उस नीति में कही गयी थी वह थी कि एक व्यक्ति को सिर्फ एक रिक्शा रखने का अधिकार होगा तथा लाइसेंस भी उसी को दिया जायेगा, जो रिक्शा को चलायेगा। यानी कि ऐसा कोई व्यक्ति रिक्शा नहीं खरीद सकता था जो कि स्वयं चालक न हो। अर्थात् इसका उपयोग व्यवसायिक रूप से नहीं किया जा सकता था। यह नीति पूरी तरह से गरीब विरोधी थी। साल में कुछ महीनों के लिए दिल्ली आकर रिक्शा चलाने वालों के पास इतना पैसा नहीं होता था कि वे रिक्शा खरीद सकें और खरीद भी तें तो वापस घर लौटते समय इसे रखेंगे कहाँ, यह भारी समस्या थी उनके सामने। इस नीति से एम.सी.डी. और पुलिस अधिकारियों की जेबें खूब गर्म हुई। दिल्ली में एक नये किस्म के ठेकेदार पैदा हुए जो एम.सी.डी. के भ्रष्ट अधिकारियों की मदद से, अलग-अलग नामों से 10-20 रिक्शों खरीद कर उनका लाइसेंस बनवा लेते थे। पुलिस की मदद से 100-150 अतिरिक्त रिक्शे लेकर उसे किराये पर चलवाने लगे। 20 रिक्शे के लाइसेंस के नाम पर 150-160 रिक्शे आराम से चलते हैं। इसके एवज में 400-500 रुपया प्रति रिक्शा प्रति माह पुलिस एवं एम.सी.डी. वालों को मालिकों द्वारा दिया जाता है। लेकिन पुलिस व एम.सी.डी. के अधिकारियों का इतने से ही पेट नहीं भरता। वो जब चाहते हैं रोड पर से गैर-लाइसेंस वाले चालकों के रिक्शों को उठवा लेते हैं। उन रिक्शों को छुड़ाने के लिए 400-450 रुपया जुर्माना तथा

जितने दिन रिक्शा एम.सी.डी. परिसर में खड़ा रहेगा उसका 25 रुपया प्रतिदिन का किराया वसूला जाता है। यह वसूली आमतौर पर रिक्शा चालकों से की जाती है। रिक्शे को छुड़ाने के लिए बेचारे गरीब चालकों के पास एक मुश्त इतना पैसा न होने पर मालिकों से उनको कर्ज लेना पड़ता है और एक बार कर्ज में फँस जाने के बाद छूटना इतना आसान नहीं हो पाता उनके लिए। लिहाजा उनको उसी मालिक का रिक्शा तब तक चलाना पड़ेगा जब तक कि वह कर्ज चुकता नहीं हो जाता। इस प्रकार मालिक का धंधा मजे से चलता रहता है।

तीसरी बात नीति में है कि रिक्शे का लाइसेंस पूरे साल में सिर्फ दो महीने ही बनेगा। जब बनेगा तो उसका विज्ञापन समाचार पत्रों में दे दिया जायेगा। अब प्रश्न उठता है कि भला गरीब रिक्शा वाला कितना अखबार पढ़ता है कि उसे पता चल सके लाइसेंस बनने के बारे में। इसलिए लाइसेंस बनवाने के लिए दलालों का एक तबका सक्रिय हो जाता है। जो कि तीन से चार गुना ज्यादा पैसा लेकर लाइसेंस बनवाने का धंधा शुरू कर देते हैं। उन दलालों की अधिकारियों से सीधे सांठ-गांठ होने के कारण आम रिक्शा कामगार बिना दलालों की मदद से लाइसेंस हासिल ही नहीं कर सकता। यहाँ रिक्शा चालक दोहरी मार एक साथ झेलता है। लाइसेंस बनवाना हो तो दलाल को पैसा दें और बिना लाइसेंस चलाना हो तो पुलिस व एम.सी.डी. वालों को। पैसा न देने पर रिक्शे की जब्ती होना तय है। कभी-कभी तो रिक्शे को तोड़ भी दिया जाता है। गाली सुनना और अपमानित होना तो आम बात है।

चौथी बड़ी समस्या रिक्शों के पार्किंग की है। दिल्ली में ऐसी एक भी जगह निर्धारित नहीं है जहाँ रिक्शे की पार्किंग की जा सके, जबकि अन्य वाहनों के लिए हर मुहल्ले में एम.सी.डी. ने पार्किंग बना रखा है। दिल्ली में ट्रैफिक जाम का भी सबसे बड़ा कारण इन्हीं रिक्शों को पुलिस बताती है। इसलिए इनके लिए रिंग रोड या कुछ अन्य पॉश इलाकों में जाने पर पूर्ण प्रतिबंध

है। सवाल यह है कि जहाँ ये रिक्शे नहीं चलते क्या वहाँ ट्रैफिक जाम नहीं होता? यदि रिक्शा प्रशासन की नजर में इतना ही गैर-जरूरी है तो, वो लोग कहाँ जायेंगे जिनके पास अपने निजी वाहन नहीं हैं और औटो का किराया वहन करने की उनकी हैसियत नहीं है? उन 50 लाख लोगों का क्या होगा जिनका जीवन दिल्ली के रिक्शे पर ही टिका है? क्या रिक्शे को बंद कर देने से दिल्ली की यातायात व्यवस्था को चरमराने से रोका जा सकेगा? ये ऐसे सवाल हैं जिनको नजर अंदाज कर पाना शायद आसान नहीं होगा।

इसलिए जरूरत है साइकिल रिक्शा के मामले में एक समग्र नीति बनाने की और उसकी उपयोगिता को एक सच्चाई के बतौर स्वीकार करने की। नीति बनाते समय उपर्युक्त नीतिगत खामियों को दूर तो किया ही जाये साथ ही साथ रिंग रोड या अन्य सभी रोडों पर एक अलग से रिक्शा लेन बनाने तथा सभी रिक्शा चालकों को लाइसेंस देने की प्रक्रिया सुगम बनाने व रिक्शे के उपयोग को एक व्यवसायिक गतिविधि के बतौर स्वीकार करते हुए एक आदमी को एक से अधिक रिक्शा रखने की अनुमति और पार्किंग सुविधा उपलब्ध करवाना आवश्यक है।

बुनियाद हिलनी चाहिए...

हो गई है पीर पर्वत-सी पिघलनी चाहिए, इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए।

आज यह दीवार परदों की तरह हिलने लगी शर्त लेकिन थी कि ये बुनियाद हिलनी चाहिए।

हर सड़क पर हर गली में हर नगर हर गांव में हाथ लहराते हुए हर लाश चलनी चाहिए।

सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं, मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए।

मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीने में सही, हो कहीं भी आग, लेकिन आग जलनी चाहिए।

-दुष्यंत कुमार

पहचान और अधिकार के लिए दर-दर भटकते बेघर मजदूर....

■ अशोक पाण्डेय

(बेघर मजदूर संघर्ष समिति)

बेघर मजदूर कौन?

पापी पेट की सेवा, बच्चों का बेहतर भविष्य, बूढ़े मां-बाप की दवा का इंतजाम एवं सुन्दर भविष्य के सपने आंखों में लिए गांव गिरांव से हर माह हजारों की तादाद में मजदूरों का काम की तलाश में दिल्ली, मुम्बई, बंगलौर जैसे महानगरों व छोटे शहरों में आवागमन जारी है। उनमें से जो थांडे बहुत भाग्यशाली हैं उनको तो टूटी-फूटी झुग्गी-झोपड़ियों में यहां-वहां रहने की जगह मिल जाती है। गांव से पलायन कर अपनी व परिवार की जिन्दगी सजाने व संवारने का सपना लिए ये लोग दिल्ली जैसे बड़े शहरों में जाते हैं। ये लोग भविष्य की उम्रीद को जीवंत करने, जरुरतों को पूरा करने व बच्चों के भविष्य को सुरक्षित करने का सपना पूरा करने के लिए अपने परिवार से दूर होते हैं। इन लोगों को इन बड़े शहरों में काम के पर्याप्त अवसर अथवा संसाधन नहीं मिल पाने के कारण इनके सामने काम के साथ रहने की समस्या भी खड़ी हो जाती है। फिर इन्हें फुटपाथ पर रहने को विवश होना पड़ता है। और इनको कहा जाता है बेघर मजदूर।

बेघर मजदूरों के द्वारा किये जाने वाले काम का शहरी अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान होता है। जिन कामों को ये मजदूर करते हैं उन कामों में कई काम ऐसे भी हैं जिसे असंगठित क्षेत्र की श्रेणी में भी स्थान नहीं मिला है। ये मजदूर हमेशा सामाजिक सुरक्षा के लाभ से वर्चित होते हैं। इनको रोज काम मिलेगा इसकी निश्चितता नहीं होती। प्रायः रोज इनके काम में मालिक बदलते रहते हैं। जो काम बेघर मजदूर करते हैं वो दिहाड़ी मजदूर की श्रेणी में आता है। जिन जगहों से इन्हें आसानी से काम मिल जाते हैं वह लेवर चौक, रिक्शा गैराज आदि होते हैं। ये लोग साइकिल रिक्शा चलाना, साइकिल-ठेला खींचना, हाथ-ठेला खींचना, तोड़िग-अनलोड़िग, धक्का लगाना, शादी-पार्टी, टेन्ट लगाने, बेलदारी, राजमिस्त्री, सफेदी/रंग-रोगन, कारपेन्टर, पलम्बर, होटल/द्वाबा/

चाय की दुकान आदि का काम करते हैं।

कामों की निश्चितता संजोए हुए सपने का पूरा न होना व पारिवारिक जरुरतों को पूरा न कर पाने की स्थिति में बेघर मजदूरों की मनोस्थिति असंतुलित हो जाती है। और अनेक समस्याओं की गिरफ्त में रहने वाले ये मजदूर अपने आपको समाज की मुख्य धाराओं से कटा हुआ महसूस करते हैं। जब पूरा का पूरा शहर अपनी रोजमर्मा के कामों को खत्म कर रात को अपने-अपने घरों में परिवार के साथ सकून से सोता है उस समय बेघर मजदूर जो दिनभर अपने श्रम से शहर को अथवा शहर में रहने वाले लोगों के लिए काम करते हैं, काम समाप्त करने के लिए बाद इस एहसास से परेशान रहते हैं कि अब हम कहां सोएंगे?

जब उन्हें इस बात का एहसास होता है कि अगले दिन का काम भी तय नहीं तो उन्हें रात को नींद भी नहीं आ पाती। और उनकी मनोस्थिति पूरी तरह खराब हो जाती है। नित होने वाली समस्या का कोई स्थायी समाधान न सूझने की स्थिति में तनाव जैसी बीमारी का शिकार हो जाते हैं। तनाव रूपी बीमारी के शिकार मजदूर धीरे-धीरे निराशावादी होने लगते हैं। इसके अनेकानेक कारण हैं। मजदूर ये देखता है कि हम जिनके लिए काम कर रहे हैं वही हमारा तिरस्कार कर रहे हैं, यानी सम्मान की जगह अपमान कर रहे हैं। इस हालत में वह नशे की गिरफ्त में आने लगता है। नशा करने की आदत की वजह से समाज उसी मजदूर को अनेक नामों से नवाजने लगता है। जैसे-शराबी, कंगला, चोर, भिखारी आदि तमाम नाम दे दिए जाते हैं। और फिर पुलिस का कहर, जिससे बेघर मजदूर अपना आत्मविश्वास खो वैठता है। उसके अन्दर की इच्छाशक्ति कम होने लगती है और वह अपने अधिकारों से वंचित रह जाता है। बेघर मजदूरों के सामने एक समस्या और खड़ी हो जाती है कि उनके पास पहचान-पत्र नहीं होता है। जिसके चलते उन्हें हर तरह की सरकारी

सुविधाओं से वंचित रहना पड़ता है। और तो और उन्हें पुलिस द्वारा गिरफ्तार किये जाने की स्थिति में ये सावित कर पाना भी मुश्किल हो जाता है कि हम मजदूर हैं।

बेघर मजदूरों पर होने वाले शोषण पर अंकुश लगाने की वजाए सरकार व समाज उन्हीं मजदूरों पर दोष लगाने को ज्यादा तबज्जो देती है। और यहां यह जानना हम सबके लिए अति आवश्यक है कि सरकार की जो योजनाएं व स्कीमें आज बेघर मजदूरों के लिए बन भी रही हैं। वह सिर्फ रेन-बसेरे तक सीमित होकर रह गई हैं। बाकी जो हक मिलना चाहिए बेघर मजदूरों को, उन्हें उससे दूर किया जा रहा है। आज कहीं पर कोई बेघर मजदूरों के पहचान पत्र मिलने की बात नहीं करता, सामाजिक सुरक्षा की बात नहीं करता। सरकार रेन-बसेरों को सभी समस्याओं का समाधान मानती है जिससे लोग आवास की हक की मांग को न उठा सकें। आज हर कोई अपने आप को बेघर मजदूरों की समस्याओं का ठेकेदार समझता है।

अब अगर हम रेन-बसेरों की स्थिति के बारे में बात न करें तो बात अधूरी रहेगी। रेन बसेरों को सरकार रात में ठहरने मात्र के रूप में मानती है, जिसमें छः रुपये सोने के लिए सुविधा शुल्क के नाम पर लिया जाता है जिसे किसी भी रूप में आवासीय विकल्प नहीं माना जा सकता। दिल्ली में बेघर मजदूरों की कुल आबादी 1 लाख 50 हजार है, जिसमें 90 प्रतिशत बेघर मजदूर हैं। इस हिसाब से सरकार द्वारा मुहैया रेन-बसेरों में पन्द्रह से बीस प्रतिशत आ पाते हैं। झुग्गी-बस्ती में रहने वाले लोगों का पहचान-पत्र/राशन कार्ड या अन्य सरकारी दस्तावेज आसानी से बन जाता है। जबकि झुग्गी-बस्ती को सरकार अवैध मानती है। परंतु सरकार रेन बसेरे में रहने वाले लोगों को यह सब सुविधाएं नहीं देती जबकि ये सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त होते हैं।

समस्या यह नहीं कि समस्या है,
समस्या यह है कि सब चुप हैं।

हक्कों से वंचित निर्माण क्षेत्र के मजदूर

■ वेद प्रकाश

हरिराम चौधरी 2007 में उत्तर प्रदेश के महोबा से काम की तलाश में दिल्ली आए। उन्हें नोएडा में बन रही एक आवासीय बहुमिजिला इमारत में राजगीर का काम मिल गया। ठेकेदार ने उन्हें वहीं रहने की जगह भी दे दी। करीब तीन महीने काम करने के बाद हरिराम चौधरी वापस उत्तर प्रदेश अपने गांव चले गए। एक महीना रहने के बाद अपनी पत्नी, दो छोटे बच्चों, छोटे भाई व उसकी पत्नी के साथ वापस नोएडा आ गए। इस बार उन्हें पुरानी जगह पर काम नहीं मिला। एक-दो दिन उसी पुरानी जगह पर परिवार को छोड़ उन्होंने पास ही इन्दिरापुरम में बन रही आवासीय परियोजना में काम शुरू कर दिया। टिन की चादरों से छोटी सी झोपड़ी बनाई। दोनों भाई और हरिराम की पत्नी काम पर लग गए। हरिराम राजगीर का काम करते और उनकी पत्नी व भाई सामान्य दिहाड़ी मजदूर का काम। इस तरह काम करते हुए हरिराम साल में एक-दो महीने अपने गांव हो आते। लौटने पर काम की अनिश्चितता बनी रहती। एक-दो बार हरिराम ने चाहा कि वह घर पर ही रुक जाए। लेकिन गांव में काम न मिलने की वजह से उन्हें वापस दिल्ली का ही रास्ता देखना पड़ा। गांव में कभी-कभार राजगीर का काम तो मिल जाता था, लेकिन मजदूरी कम होने के चलते गुजारा संभव नहीं था। खेत में मजदूरी करके फसल के मौसम में गुजारा हो जाता था, लेकिन शेष दिनों में बेरोजगारी से निपटने का कोई उपाय नहीं था। गांव में हरिराम के परिवार के पास रहने के अलावा और कोई जमीन नहीं थी। इस विकल्पहीनता के चलते ही उन्हें भी लाखों लोगों की तरह काम की तलाश में महानगर की ओर रुख करना पड़ा। ठेकेदार को एक काम खत्म होने के बाद जब तक दूसरा काम नहीं मिल जाता था, तब तक बिना मजदूरी के खाली बैठना पड़ता था। कई बार ऐसा हुआ कि ठेकेदारों ने मालिक से पैसा न मिलने का बहाना बनाते हुए बकाये का भुगतान नहीं किया।

ऐसे तमाम संकटों को छोलते हुए 2010 की गर्मियों के बाद उन्होंने ठेकेदारों के साथ काम करना बंद कर दिया। इलाके से परिचित हो जाने के चलते अब स्वयं काम खोजना उनके लिए आसान हो गया था। लेकिन इसी साल मई में एक दुर्घटना के चलते वह तबाह हो गए। एक मकान में राजगीर का काम कर रहे थे। यहाँ पर उनकी पत्नी, छोटा भाई और उसकी बहू मजदूरी करते थे। तीसरी मंजिल पर काम करते हुए हरिराम का भाई फिसल कर दूसरी मंजिल पर आ गिरा। गिरते ही अचेत हो गया। हरिराम ने कार्यस्थल के मालिक को फोन किया। उसने कहा कि वह शहर से दूर होने के कारण नहीं आ सकता और सलाह दी कि अपने भाई को अस्पताल ले जाओ। हरिराम अपने घायल भाई को पास के एक नर्सिंग होम में ले गए। अस्पताल में उन्हें बताया गया कि उनके भाई के बाएं कंधे की हड्डी तथा कई पसलियां टूट गई हैं। डॉक्टर ने यह भी बताया कि उनका ऑपरेशन करना पड़ेगा। साथ ही अस्पताल ने तुरंत 25 हजार रुपये जमा करने के लिए कहा। अगले दिन हरिराम ने मालिक से संपर्क किया तो उसने किसी प्रकार की सहायता देने से मना कर दिया। उल्टे नसीहत देने लगा कि सावधानी से काम करना चाहिए था। लापरवाही उसने की है तो सजा में नहीं भुगत सकता। कार्यस्थल के मालिक ने हरिराम का बकाया भुगतान कर दिया। साथ ही फिर दोबारा न आने की हिदायत दी।

हरिराम ने किसी तरह 20 हजार रुपये इकट्ठे करके अस्पताल में जमा कर दिए। चार दिन बीतने के बाद डॉक्टरों ने कहा कि ऑपरेशन के लिए 50 हजार रुपये और जमा करें। हरिराम ने असमर्थता जताई। उसे 25 हजार रुपये का बिल पकड़ाते हुए मरीज को ले जाने के लिए कह दिया गया। किसी तरह मिन्तें करके हरिराम अपने भाई को झूम्झी में वापस ले आए। कुछ दिन बाद वह पूरे परिवार समेत वापस गांव चले गए। दोबारा

चार महीने बाद अकेले ही वापस आकर काम करना शुरू किया। गांव में कर्ज लेकर किसी तरह भाई का गलत-सही इलाज कराया।

यह हाल उन लाखों लोगों का है जो आज राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में भवन निर्माण के काम में मजदूरी कर रहे हैं। निर्माण का काम राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के दिल्ली सहित गुडगांव, नोएडा, ग्रेटर नोएडा, गाजियाबाद, फरीदाबाद में व्यापक पैमाने पर चल रहा है। सिर्फ ग्रेटर नोएडा में ही ढाई लाख आवासीय इकाइयां बनाई जा रही हैं। इनमें विहार, उड़ीसा, झारखंड, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, राजस्थान से आए श्रमिक काम करते हैं। निर्माण क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरों में से अधिकांश ग्रामीण अंचलों से आए समाज के हाशिए पर जीने वाले भूमिहीन दलित, पिछड़ी जातियों के लोग हैं। महज जीने लायक मजदूरी मिलने की आशा से ही विकल्पहीनता की स्थिति में राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में काम करने के लिए आते हैं। काम के दौरान आवास, स्वास्थ्य सुविधा, बच्चों की शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा, साफ पानी जैसी बुनियादी सुविधाओं के अभाव में इन्हें काम करना पड़ता है।

इन कामगारों में कुछ ही कुशल कारीगर हैं। ये राजगीरी, पतम्बरी, कारपेंटरी आदि के कामों में लगे हैं। कुशल कारीगर मोलभाव करके थोड़ी अच्छी मजदूरी पा लेते हैं। जबकि मजदूरों का एक बड़ा हिस्सा बहुत कम मजदूरी पर काम करने के लिए मजबूर है। निर्माण में लगे कामगारों की अधिकतर आवादी कार्यस्थल पर झोपड़ी बनाकर रहती है। ये मजदूर लकड़ी के चूल्हे पर भोजन पकाते हैं। अधिकतर का पूरा परिवार कार्यस्थल पर चला जाता है। बच्चे यदि थोड़े बड़े हों तो झोपड़ी पर ही रुक जाते हैं। नहीं तो मां-बाप के साथ काम की जगह पर ही खेलते रहते हैं। या फिर अपने छोटे भाई-बहनों की देखभाल करते रहते हैं। इन्हें पढ़ाने की कोई व्यवस्था उपलब्ध नहीं है। बीमार पड़ने पर इलाज के लिए कुछ नीम-हकीम उपतब्ध होते हैं।

दुर्घटना इत्यादि होने पर प्राथमिक इलाज के अलावा नियोक्ता ठेकेदारों से और कुछ नहीं मिलता। अमूमन पीएफ और ईएसआई नहीं करता है।

मजदूरों के लिए तो काम छोड़ कर जाते समय हिसाब मिल जाना ही फंड-बोनस-पेंशन के समान है। जबकि निर्माण क्षेत्र की व्यापकता को देखते हुए ही निर्माण मजदूरों के कल्याण के लिए राज्य सरकारों द्वारा बोर्ड गठित करने तथा निर्माण कंपनियों से पैसे इकट्ठा कर संबंधित मजदूरों की कल्याणकारी योजनाओं का प्रावधान शासन की तरफ से किया गया है। हालत यह है कि लंबा अर्सा बीत जाने के बावजूद कई राज्यों ने उल्लिखित बोर्ड का गठन अभी तक नहीं किया है। उत्तर प्रदेश

में बोर्ड गठन तो हो गया है, लेकिन मजदूरों के नामांकन का काम बहुत सुस्त होने के चलते इस क्षेत्र में कोई खास प्रगति नहीं हो पाई। इन विशालकाय कंपनियों से वैष्णवीनिक रूप से तय राशि इकट्ठा करने की इच्छाशक्ति का पर्याप्त अभाव दिख रहा है। लेकिन इसके बावजूद करोड़ों रुपये कोष में आए हैं। उन्हें खर्च करने की कोई भी योजना सरकार के पास नहीं है। एक तरफ करोड़ों रुपये निष्प्रयोज्य पड़े हुए हैं, तो दूसरी तरफ इसके उपयोग से लाभान्वित हो सकने वाले लोग जिल्लत की जिंदगी जीने के लिए मजबूर हैं। इस काम में गति लाने के लिए बोर्ड को तत्काल स्पष्ट नीति बनाकर श्रमिकों के नामांकन की प्रक्रिया तेज करनी चाहिए।

नामांकन में व्यावहारिक रूप से आने वाले मजदूरों के लगातार स्थान परिवर्तन आदि की समस्या से निपटने के लिए कोई कारगर तरीका अख्तियार करना होगा। नामांकन शुल्क घटाकर इसे इतना कम करना चाहिए कि मजदूर इसका आसानी से भुगतान कर सकें। साथ ही बोर्ड को निर्धारित शुल्क देने के लिए निर्माण कंपनियों की जवाबदेही सुनिश्चित करानी चाहिए। इसके अलावा बोर्ड को चाहिए कि इस काम में तेजी लाने के लिए निर्माण क्षेत्र के मजदूरों के साथ काम करने वाली यूनियनों से सामंजस्य स्थापित कर उनकी सेवाओं का लाभ उठाएं। बिना मिले-जुले प्रयास के इतनी बड़ी आवादी को उसका हक दिला पाना संभव नहीं होगा।

एक निर्माण मजदूर से बातचीत

नाम	- नूर मोहम्मद
उम्र	- 42 साल
मूल निवासी	- कूचबिहार, पश्चिम बंगाल
प्रतिनिधि	- आप कितने साले से राष्ट्रीय क्षेत्र में काम कर रहे हैं?
नूर मोहम्मद	- आठ साल से।
प्रतिनिधि	- आपके साथ कौन-कौन रहता है?
नूर मोहम्मद	- पत्नी है तथा एक बेटा है।
प्रतिनिधि	- क्या पत्नी भी काम करती है?
नूर मोहम्मद	- हाँ, पत्नी भी और बेटा भी।
प्रतिनिधि	- गांव में कौन-कौन हैं?
नूर मोहम्मद	- वहाँ मेरे बूढ़े मां-बाप हैं और वहू है तथा उसके तीन बच्चे।
प्रतिनिधि	- आपको कितनी मजदूरी मिलती है?
नूर मोहम्मद	- हमें आठ घंटे के 140 रुपये और चार घंटे के ओवरटाइम के 70 रुपये मिलते हैं।
प्रतिनिधि	- बेटा कहाँ काम करता है?
नूर मोहम्मद	- वह दूसरी साइट पर काम करता है। उसे 180 रुपये मिलते हैं।
प्रतिनिधि	- आप तो 10-12 हजार रुपये महीने कमा लेते हैं।
नूर मोहम्मद	- नहीं।
प्रतिनिधि	- क्यों?
नूर मोहम्मद	- एक तो रोज ओवरटाइम नहीं मिलता, दूसरा महीने में बीस-बाइस दिन ही काम मिल पाता है। एक काम छूटने के बाद दूसरा काम मिलने में भी समय लगता है। इसके चलते बचा हुआ पैसा भी खत्म हो जाता है।
प्रतिनिधि	- क्या ठेकेदार आपका पीएफ काटता है?
नूर मोहम्मद	- नहीं साहब यह तो सरकारी नौकरी में करता है।
प्रतिनिधि	- क्या ठेकेदार ने आपका बीमा कराया है?
नूर मोहम्मद	- नहीं साहब, ठेकेदार बीमा नहीं करता। हम तो यहाँ आठ साल से हैं। कहीं बीमा नहीं कराया जाता।
प्रतिनिधि	- सरकार ने आपके लिए बोर्ड बना रखा है। आपको इसकी कोई जानकारी है?
नूर मोहम्मद	- जी नहीं, मुझे ऐसी कोई जानकारी नहीं है।
प्रतिनिधि	- बोर्ड में रजिस्ट्रेशन करने से आपको दुर्घटना मुआवजी बीमा तथा पेंशन इत्यादि की सुविधा मिल सकती है। क्या अपना रजिस्ट्रेशन करना चाहेंगे?
नूर मोहम्मद	- जी हाँ।

कूड़े पर जिंदा लोगों की कहानी

■ शशि भूषण पंडित

(ऑल इंडिया कबाड़ी मजदूर महासंघ)

हमारे देश के शहरों में ठोस कचरा प्रबन्ध की औपचारिक व्यवस्था सुस्थापित मानदण्डों पर आधारित है। यह व्यवस्था औपनिवेशिक काल की देन है। शहरी स्थानीय निकाय अपनी जिम्मेदारी केवल यहीं तक मानते हैं कि वे सड़कें साफ करने के लिए प्रति इकाई आबादी पर सफाई कर्मचारियों की निश्चित संख्या तैनात कर दें, निश्चित फासलों पर पक्के कूड़ेदान बना दें जहां घरों और व्यवसायों का कूड़ा फेंका जा सकता है, खास डिजाइन और क्षमता वाले वाहन उपलब्ध करा दें ताकि कचरे को बड़े कूड़ेदान तक ढोया जा सके और निश्चित वर्षों के लिए सेनेटरी लैंडफिल्ट्स की व्यवस्था कर दें।

इसके साथ साथ परम्परागत रूप से धूम-धूम कर कूड़ा इकट्ठा करने वाली रद्दी वालों की एक वड़ी जमात रही है। ये लोग गलियों में फेरी लगाते हैं और रीसाइक्लिंग योग्य पदार्थ खरीदते या इकट्ठा करते हैं। घरों और दफतरों से ये लोग पुराने अखबार, कांच की बोतलें और पुराने उपकरण खरीदते हैं। इनके अलावा नियमित फेरीवाले या अन्य लोग भी होते हैं (मुख्य रूप से महिलाएं) जो पुराने कपड़ों के बदले नए कपड़े बेचते हैं। ये सभी लोग पुरुष कबाड़ी वालों से जुड़े हुए थे जो नगरपालिका द्वारा तय किए गए खास स्थानों पर काम करते थे और तमाम तरह का इकट्ठा किया हुआ और खरीदा हुआ कचरा खरीदते थे।

व्यवस्थागत बदलाव

यह समानान्तर व्यवस्था अब भी मौजूद है लेकिन अब औपचारिक व्यवस्था के साथ इसका सम्बन्ध तनावपूर्ण होने लगा है। इसका मुख्य कारण यह है कि कचरे की गुणवत्ता और मात्रा में बदलाव आ रहा है जिसके चलते नगरपालिकाओं पर कचरे की दुलाई और निस्तारण का भार पहले से बढ़ गया है। जिन चीजों को कचरे से निकाला जा

सकता है उनकी कीमत का सवाल भी महत्वपूर्ण है। लिहाजा, जहां एक तरफ प्रति व्यक्ति कचरा उत्पादन में इजाफा हुआ है और वस्तुओं के उपभोग में इजाफा हुआ है वहीं दूसरी तरफ शहरी आबादी भी तेजी से फैली है जिसके चलते नगरपालिकाएं कचरे के बढ़ते अंबार के संग्रह, परिवहन, निस्तारण की लागतों से परेशान रहने लगी हैं।

शहरी ठोस कचरे का स्वरूप भी बदल गया है। अब पैकेजिंग वाली चीजें ज्यादा आने लगी हैं। इनमें से बहुत सारी चीजों की कम उर्जा लागतों पर रीसाइक्लिंग की जा सकती है। ऐसे कचरे को इकट्ठा करने से कमाई बढ़ी है। ऐसे कचरे की तादाद भी बढ़ी है जो जैविक किस्म का है और अधिकांशतः कचरा प्रबन्धक उनको संभालने से कतराते हैं। लिहाजा, इस कारोबार में ज्यादा लोग आ गए हैं। इनमें बहुत सारे प्रवासी मजदूर, घरेलू कामगार, चौकीदार, सफाई वाले, नगरपालिका अधिकारी और पुलिस अधिकारी भी एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं।

आजीविका से जुड़े मुद्दे

शहरी विकास मंत्रालय की मान्यता यह है कि शहरी स्थानीय निकायों के पास ठोस कचरा प्रबन्ध के लिए न तो पैसा है और न ही क्षमता है। इसलिए सार्वजनिक -निजी सहभागिता (पीपीपी) का रास्ता अपनाया जा सकता है। इसी समझ का नतीजा है कि बहुत सारी नगरपालिकाओं ने निजी कम्पनियों के साथ करार किया है और उन्हें कचरे को इकट्ठा करने और निश्चित लैंडफिल्ट्स में ले जाकर फेंकने का जिम्मा सौंपा है। कई जगह इन कम्पनियों को घर घर जाकर कचरा इकट्ठा करने का जिम्मा भी सौंपा है। लेकिन दूसरी तरफ सर्वोच्च न्यायालय द्वारा नियुक्त की गई समिति ने सुझाव दिया है कि इस प्रक्रिया में स्थानीय कचरा बीनने वालों को

भी शामिल किया जाना चाहिए।

जैसे जैसे ये प्रक्रियाएं पुख्ता हुई हैं कचरा बीनने वालों ने भी अपनी आजीविका बचाने के लिए संगठन बनाये हैं। इन प्रयासों में इस बात पर आम सहमति बनती दिखाई दे रही है कि कचरा बीनने वालों के संगठनों को कचरे तक पहुंच, कचरे की छंटाई के लिए जगह, भंडारण और कचरा प्रसंस्करण तथा व्यापार में टिके रहने के लिए आसान शर्तों पर छोटे कर्जे मिलने चाहिए और इसके लिए उनकी कानूनी पहचान की जरूरत है। यह व्यापक रणनीति अलग-अलग जगह अलग-अलग रही है और ऐसे मुद्रे सामने आए हैं जिन का अभी तक पर्याप्त दस्तावेजीकरण और विश्लेषण नहीं हुआ है।

कूड़ा बीनने वालों की स्थिति पर कई वर्षों से दिल्ली में चर्चा हो रही है। बात की शुरूआत उनके स्वास्थ्य को लेकर हुई थी। उसके बाद कारोबार से कितनी आय किसके हाथ में जाती है पर ध्यान गया। फिर अस्तित्व और नगर पालिका से पहचान पत्र पाने का मुद्रा उठा। कुछ दिनों बाद पुलिस द्वारा बंलादेशी के नाम पर गिरफ्तारी की बात सामने आई और अब कूड़ा व्यवसाय के निजीकरण का मसला बहस का विषय बन गया है। सुविधा, आवास, रोजगार, सुरक्षा, हर हक से कूड़ा बीनने वाले मजदूर वंचित हैं।

यह तो स्पष्ट है कि हर शहर में कूड़े के निपटारे का मामला हर नगर निकाय के लिए एक सर दर्द बन रहा है। केवल इसलिए नहीं कि उसे पटकने के लिए जगह की कमी हो रही है। लेकिन इसलिए भी कि आधुनिक समाज में कूड़े की शक्ति बदल रही है और उसमें ऐसी चीजें आने लगी हैं जो न सड़ती हैं और न ही गलती हैं और कई दिनों या वर्षों तक उनका प्रभाव फैलता रहता है। कीटनाशक, धातु, तेजाव, रेडियोधर्मी पदार्थ जैसे विषैले माल भी अब कूड़े में आने लगे हैं और हर नगर निकाय अपना खर्चा

कम करने के लिए सफाई कर्मचारियों की छंटाई करने में तत्पर है तथा कूड़ा प्रबन्ध निजी कम्पनियों के हाथों सौंप रहा है।

यह स्पष्ट है कि बिना बीनने वाले की मेहनत के इस कूड़े का निपटारा नहीं हो सकता है। इसीलिए सर्वोच्च न्यायालय की बर्मन कमेटी ने भी सुझाव दिया था कि प्रबन्ध के काम में कूड़ा बीनने वाले को जगह मिलनी चाहिए। यही बात और अधिकारी और शोधकर्ता भी कहते हैं। लेकिन असलियत तो यह है कि अगर प्रबन्धन का ठेका निजी कम्पनी को दे दिया जाता है तो कम्पनी का स्वार्थ केवल इस में है कि ज्यादा से ज्यादा कूड़ा पटकने की जगह (लैंडफिल) तक पहुंचाया जाये ताकि उसके अनुसार पैसा मिले। अगर कूड़े में से प्लास्टिक, गत्ता, लोहा इत्यादि निकालने की बात भी आती है तो कम्पनी यही चाहेगी कि उसका मुनाफा भी कम्पनी को मिले न कि बीनने वाले मजदूर या कबाड़ी को।

दिल्ली में करीब 3.5 लाख लोगों की जीविका आज कूड़े से चलती है। कूड़ा के बारे में एक आकलन है कि करीब 80 प्रतिशत कूड़ा पुनः उपयोग में लाया जा सकता है। मोटा-मोटा इसे बांटा जाए तो 50 प्रतिशत कूड़ा वैसा होता है जिसको जैविक खाद या बायो गैस में तब्दील किया जा सकता है। तो लगभग 30 प्रतिशत कूड़े को पुनर्चक्रित किया जा सकता है। मात्र 20 प्रतिशत ही कूड़ा है जिसको लैंडफील में पहुंचाने की आवश्यकता होगी। इस नीति को आगे बढ़ाया जाता है तो पर्यावरण की रक्षा व स्वच्छता की गारंटी तो होगी ही साथ ही कूड़ा चुनने वाले मजदूरों के जीविकोपार्जन की सुनिश्चितता की गारंटी की जा सकता है।

दिल्ली में 3 नगर निकाय हैं जिनका नाम क्रमशः दिल्ली नगर निगर (MCD), नई दिल्ली नगरपालिका परिषद् (NDMC) और दिल्ली कैन्टोमेंट बार्ड (DCB) हैं। सरकारी बेवसाइट पर उपलब्ध जानकारी के अनुसार लगभग 8000 मैटिक टन प्रतिदिन कूड़ा पैदा होता है। लेकिन ये आंकड़ा वो है जिसको नगर निकाय संग्रहण करके लैंडफील

पर पहुंचाती है। नगर निकाय के पास कचरे का बजन करने की सुविधा लैंडफिल साइट पर उपलब्ध है क्योंकि प्रत्येक लैंडफिल पर धर्म कांटा होता है। लेकिन हकीकत में कचरे की मात्रा इससे कहीं अधिक है। जिसे कचरा चुनने वाले मजदूरों द्वारा लैंडफील में कचरा को पहुंचाने के पहले ही छांट लिया जाता है।

कूड़ा प्रबन्ध की जिम्मेदारी नगरपालिका की है। नगरपालिका ने एक सरल और सस्ता तरकीब निकाला है इस काम को प्राइवेट कर देना। जिसका मूल मकसद सिर्फ मुनाफा को अधिक से अधिक एकत्रित करना है। लेकिन नागरिकों को बताया जाता है कि अब हम कूड़ा से बिजली तैयार करवाएंगे। इस परियोजना से होने वाले नुकसान को नागरिकों को नहीं बताया जा रहा है। दुनिया इस बात की गवाह है कि कचरे से बिजली बनाने के रास्ते नुकसान देह हैं इसलिए पूरी दुनिया से इस तरह की परियोजना को खारिज कर दिया गया है। 1990 में दिल्ली के तिमारपुर में एक ऐसी ही परियोजना लगायी गयी जिसको अंततः बंद करना पड़ा। उस इकाई से एक यूनिट भी बिजली पैदा नहीं हो सकी।

अनौपचारिक क्षेत्र की समस्या

परम्परागत तरीके से असंगठित क्षेत्र के मजदूर इस व्यवसाय में लगे हुए हैं। लेकिन आज नगरपालिका व्यवस्था के नाम पर निजी कम्पनियों को सीधे प्रवेश की अनुमति देती जा रही है आज दिल्ली के लगभग 80 प्रतिशत एरिया पर कारपोरेट घरानों का कब्जा है। जिसका मूल मकसद मुनाफा कमाने के प्रति है ना कि लोगों के जीवन के प्रति। कम्पनियों के लिए पहली जरूरत है कि अनौपचारिक क्षेत्र को बाहर फेंका जाए। ऑल इंडिया कबाड़ी मजदूर महासंघ (AIKMM) ने NDMC एरिया में एक सर्वेक्षण किया जिससे मालूम हुआ कि असंगठित क्षेत्र को बाहर करने की मूल वजह क्या है।

1. NDMC एरिया से प्रतिदिन 80 टन सूखा कूड़ा निकलता है। जो NDMC की सूची से बाहर है। जिसको असंगठित क्षेत्र के मजदूरों द्वारा छंटाई कर लिया जाता है। इसका एक आकलन करते हैं तो $80 \times 1000 = 80,000$ किलो $\times 5$ रु प्रति किलो

(औसत) = 400000 (चार लाख प्रतिदिन)। $1,20,00,000 \times 12$ महीना = 14,40,00000 (चौदह करोड़ चालीस लाख) प्रतिवर्ष हो जाता है। 2. साथ ही कम्पनी को NDMC से 511 रु. प्रति टन कूड़ों को लैंडफिल पहुंचाने के लिए मिलता है।

प्रतिदिन 250 टन कचरा NDMC एरिया में पैदा होता है। मतलब 250 टन $\times 511\text{रु}/\text{टन} = \text{रु. } 1,27,750$ प्रतिदिन $\times 30$ दिन = 3832500 प्रतिमाह। 3832500×12 माह = रु 45900000 (चार करोड़ उनसठ लाख नब्बे हजार) प्रति वर्ष हो जाता है।

3. परंतु कंपनी को केवल इस रकम रु (459 करोड़) से संतोष नहीं है उसकी नजर उपरोक्त (क्रमांक 1 में दिए हुए) रु 14,40 करोड़ पर लगी है। जिसका प्रमाण है कि कंपनी व्यावसायिक क्षेत्र के हर खत्ते से कचरे की छंटाई करने के एवज में मजदूरों से मासिक रु. 3,000-15,000 बसूलना शुरू की है यानि कि 100 मजदूर \times रु 6000 रु प्रतिमाह (औसत) = रु 6,00,000 प्रतिमाह = $6,00,000 \times 12$ माह = रु 72,00,000 (बहत्तर लाख) प्रति वर्ष हो जाता है। और आगे चल कर कंपनी कह रही है कि पुनर्वर्कण योग्य माल भी कंपनी को ही देना पड़ेगा। अर्थात पूरे रु. 14.40 करोड़ रु. का व्यवसाय कंपनी हड्डपना चाहती है।

4. दूसरा पक्ष यह है कि यदि मजदूरों को जगह मिल जाए तो गीले कूड़ों का खाद बन जाएगा। $250+80=330$ टन में से 170 टन गीला कूड़ा है जिसको खाद बनाया जा सकता है उसका हिसाब देखें तो $1,70,000 \times 30$ दिन = 51,00,000 किलो प्रतिमाह 51,00,000 $\times 12$ माह = 6,120,000 किलो पूरे साल में खाद को 2 रु प्रतिकिलो से बेचा जाता है। तो 6,12,00,000 \times रु 2 = 12,24,00,000 बारह करोड़ चौबीस लाख प्रति वर्ष हो जाता है 170 टन को लैंडफिल में नहीं डालना होगा यानि $170 \times 511 \times 30 \times 12 = 4.59 - 3.13 = 1.46$ करोड़ का ही खर्च आयेगा।

- इस प्रकार खाद से 15.37 करोड़
- पुनर्वर्कण से 14.40 करोड़

■ कम मात्रा (170 टन) में कूड़ा लैंडफिल पहुंचाने 3.13 करोड़ (की बचत) लैंडफिल पहुंचाने में कुल 35.62 करोड़ की बचत हो सकती है।

5. अर्थात् NDMC के सामने दो विकल्प हैं। या तो कम्पनी को रु. 4.59 करोड़ सालाना देकर 250 टन कूड़े का निपटारा करे, जिसमें लैंडफिल क्षेत्र का हिसाब नहीं है या मजदूरों का सहयोग करके 80 टन कूड़े का पुनर्चक्रण और 170 टन का खाद बनाया जाय। तब सिर्फ और सिर्फ केवल 80 टन लैंडफिल तक पहुंचाने की आवश्यकता है। अर्थात् रु. 33.62 करोड़ की बचत हो सकती है।

अब सवाल ये है कि दिल्ली में सरकारी आंकड़े के अनुसार 3.5 लाख लोगों की जीविका कचरे की छटाई के व्यवसाय से चलती है। इनके जीविका के साधन की सुरक्षा कैसे हो। इसके लिए मजदूरों को मुख्यतः 3 जरूरतों की आवश्यकता है। पहला तो पहचान की है जिससे मजदूर को पुलिस और निगम अधिकारियों से बचाव मिले। दूसरा कूड़े के ऊपर अधिकार हो ताकि मजदूरों को काम करने में दिक्कत न हो और कमाई ढंग से हो। और तीसरा जगह है कि जहां पर कूड़ा बीन सकें और माल हिफाजत से रख सकें। इन तीनों के साथ यह बात भी जुड़ी है कि पूरे व्यवसाय को कानूनी जामा पहनाया जाए ताकि पुनर्चक्रण का काम भी सुरक्षा और सफाई के साथ हो सके और पर्यावरण को हानि न पहुंचे।

मजदूरों के द्वारा प्रस्तावित व्यवस्थागत मॉडल
शहरी कचरे के संग्रह, छटाई, रिसाइक्लिंग, दुलाई, बिक्री और निस्तारण की संभावित वैकल्पिक व्यवस्था की रूपरेखा इस प्रकार है। यह व्यवस्था आवासीय क्षेत्र में प्रति 1,000 आबादी पर एक ढलाव 5000 आबादी और प्रति-व्यक्ति 0.6 किलो कचरा के डीडीए के नियम पर आधारित है। औसत के स्तर पर देखें तो एक ढलाव में रोज लगभग 500-600 किलो कचरा आएगा। अगर ये मान लिया जाए कि साइकिल पर धूम धूम कर कचरा जमा करने वाले एक बार में 50-100 किलो तक छंटा हुआ

कचरा इकट्ठा करके ले जा सकते हैं, तो हर ढलाव के लिए घर घर कचरा संग्रह और छटाई के लिए 6-10 कचरा बीनने वालों की व्यवस्था होनी चाहिए।

ढलाव से जो कचरा निकलता है उसमें से प्रति 500 किलोग्राम कचरे में से 250 किलोग्राम (50 प्रतिशत) जैविक कचरा होता है और 150 किलोग्राम रीसाइक्लिंग योग्य कचरा होता है। कचरा बीनने वालों के संगठनों को इस बात का लाभ मिलना चाहिए कि वे इस कचरे को कम्पोस्टिंग पिट या छटाई स्थितों पर ले जाएं। ये स्थान इतनी दूरी पर होने चाहिए कि वहां साइकिल रिक्षा से आसानी से जाया जा सके। प्रत्येक छटाई स्थल पर 10-20 ढलावों की व्यवस्था होनी चाहिए। कम्पोस्टिंग पिट से जो कम्पोस्ट पैदा होगा उसे हर हफ्ते साइकिल रिक्षा के जरिए स्थानीय बाजारों में ले जाया जा सकता है। इसकी कुछ मात्रा को खुद एमसीडी भी इस्तेमाल कर सकती है और बाकी को पाकीं और बगीचों के लिए बेचा जा सकता है। गोदामों में से रीसाइक्लिंग योग्य पदार्थों को हर हफ्ते छोटे एमटीवी बाहनों पर कबाड़ी और जंक डीलर संगठनों द्वारा बड़े कबाड़ियों और समुदाय स्तर की बड़ी इकाइयों (आबादी एक लाख) तक पहुंचाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

इसके बाद ढलावों में प्रति 500 किलोग्राम कचरे में से जो 100 किलोग्राम कचरा बचता है उसको वस्ती में किसी केन्द्रीय स्थान पर ले जाया जा सकता है जहां से निजी सेनेटरी ट्रक इस कचरे को उठाकर लैंडफिल में ले जाकर फेंक सकते हैं। ये लैंडफिल समुदाय या जिला (आबादी पांच लाख) स्तर पर हो सकते हैं। इस तरह की एकीकृत व्यवस्था से न केवल परिवहन लागतों में काफी कमी आती है बल्कि लैंडफिल क्षेत्रफल की जरूरत भी कम हो जाएगी बशर्ते निजी पक्षों को रीसाइक्लिंग योग्य और जैविक पदार्थों पर आधिकार न दिया जाए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कूड़ा बीनने वाले मजदूरों की आजीविका की हिफाजत के लिए और शेष समाज के लाभ के लिए यह जरूरी है कि कचरा प्रबन्धन के क्षेत्र में कारपोरेट निजीकरण को रोका जाए।

धरती को सोना बनाने वाले भाई रे

धरती को सोना बनाने वाले भाई रे माटी से हीरा उगाने वाले भाई रे अपना पसीना बहाने वाले भाई रे उठ तेरी मेहनत को लूटे हैं कसाई रे।

मिल, कोठी, कारें, ये सड़कें, ये इंजन इन सब में तेरी ही मेहनत की धड़कन तेरे ही हाथों ने दुनिया बनाई तूने ही भरपेट रोटी ना खाई ठुल्जों ने दुनिया तेरी लूट-नूट खाई रे....

मिल-कारखानों में, कोयला खदानों में खेत-खलिहानों में, सोने की खानों में बहता है तेरा ही खून-पसीना जातिम-लुटेरों का पथर का सीना सेठों के पेटों में है तेरी कमाई रे....

धरती भी तेरी ये अम्बर भी तेरा तुझको ही लाना है अपना सबेरा तू ही अंधेरों में सूरज है भाई तू ही लड़ेगा सुबह की लड़ाई तभी सारी दुनिया ये लेगी अंगड़ाई रे...
-ब्रजमोहन

शमा जलाइये

गर हो सके तो अब कोई शम्मा जलाइये। इस अहले सियासत का अन्धेरा मिटाइये।

अब छोड़िये आकाश में नारे उछालना आकर हमारे कन्धे से कन्धा मिलाइये।

जुत्मों सितम की आग लगी है यहां-वहां पानी से नहीं आग से इसको बुझाइये।

हैवानियत की आग ये फैता रहे नेता शरीफों से गुजारिश है कि अब मैदां में आइये।

क्यों कर रहे हैं आन्धियां रुकने का इंतजार ये जंग है, इस जंग में ताकत लगाइये।

भारतीय रेल और उसके मजदूर

■ शिव यादव

भारतीय रेलवे की स्थापना 1853 में की गयी। इसकी स्थापना के पीछे कई तरह की धारणायें व्याप्त हैं। मुख्य तौर पर दो धारणाओं की चर्चा की जा सकती है। एक यह कि यह भारत के औद्योगिक विकास को गति प्रदान करने के लिये की गयी। दूसरी यह कि भारत में मौजूद भौतिक संसाधनों के समग्र दोहन व ब्रिटिश कम्पनियों द्वारा ब्रिटेन में तैयार माल को भारत के कोने-कोने में पहुंचाने के लिये। पहली धारणा को ध्यान में रखकर अगर वात की जाय तो हमें यह देखना होगा कि क्या भारत का औद्योगिक विकास हुआ। जाहिर सी वात है कि भारत रेलवे की स्थापना के 165 साल बाद भी एक कृषि प्रधान देश है जिसकी अधिकांश आबादी आज भी गांवों में रहती है। दूसरी धारणा पर अगर विचार किया जाय तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ब्रिटिश सरकार ने भारत के प्राकृतिक संसाधनों का अकूत मात्रा में दोहन किया जिसके परिणाम स्वरूप न केवल ब्रिटेन के औद्योगिक विकास को गति मिली, बल्कि उसकी कम्पनियों द्वारा तैयार माल भारत के कोने-कोने में पहुंचा। इसके परिणाम स्वरूप भारत का स्वभाविक औद्योगिक विकास बाधित हुआ। ब्रिटिश कम्पनियों द्वारा भारतीय बाजार में माल डम्प करने से उभरता हुआ भारतीय उद्योग नष्ट हुआ।

वैसे तो दुनिया भर में कल-कारखानों व रेलवे के निर्माण में लगे मजदूरों का निर्मम शोषण किया गया; लेकिन भारतीय रेल की स्थापना से लेकर आज तक जिस तरह भारतीय रेल के मजदूरों का शोषण किया गया वह अकल्पनीय है। ब्रिटिश कम्पनियां जिन्हें भारतीय रेल के निर्माण का ठेका मिला वे स्थानीय ठेकेदारों को काम सौंप कर निश्चित हो गये। उन्होंने बिल्कुल भी नहीं सोचा कि मजदूर कहां से लाये जा रहे हैं। उन्हें पेमेन्ट दिया भी जा रहा है कि नहीं। उन्हें इतना कम दिया जाता था कि अपना पेट भरना

मुश्किल होता था, परिवार की जिम्मेदारी उठाना तो और भी मुश्किल था। जब मजदूरों ने इसके विरुद्ध संघर्ष करना शुरू किया तो ब्रिटिश सरकार ठेकेदारों व कम्पनियों के पक्ष में लाठी गोली लेकर खड़ी हो गयी। 1861 में एक कॉन्ट्रैक्ट लॉ का निर्माण किया गया जिसके तहत उन मजदूरों पर जुर्माना किया जा सकता था जो काम करने से इन्कार करते हों या किसी भी प्रकार के जुल्म का विरोध करते हों।

भारतीय रेल के निर्माण में कुल 28 कम्पनियों ने अपना योगदान सुनिश्चित किया। इन्ही 28 कम्पनियों के द्वारा भारतीय रेलवे 1922 तक संचालित होती रही। कम्पनियों द्वारा किये जाने वाले बैइन्टिहा शोषण के विरोध स्वरूप रेलमजदूर सदैव हड्डताल करते रहे। कभी-कभी तो ये हड्डतालें दो से तीन महीनों तक की हो गईं। विवश होकर ब्रिटिश सरकार ने रेलवे के राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया शुरू की।

भारतीय रेल के मजदूरों ने भारत में सबसे पहले खुद को संगठित करने का प्रयास किया और आठ घण्टे के कार्य दिवस की मांग 1861 में की। पहले भारतीय रेल के गाड़ीं व चालकों ने खुद को संगठित किया। इसके बाद रेलवे के कारखानों व वर्कशापों में कार्य करने वाले मजदूरों ने अपना-अपना संगठन बनाया। 1920 में एटक का जब स्थापना सम्मेलन हुआ तो उसमें सबसे ज्यादा संख्या में रेलवे में कार्यरत मजदूरों की यूनियनें सम्मिलित हुईं।

1924 में भारतीय रेल के मजदूरों ने ऑल इण्डिया रेलवे फेडरेशन की स्थापना की। 19वीं शताब्दी के अन्त व 20वीं शताब्दी के शुरू में अलग-अलग कम्पनियों के तहत संचालित रेलवे में स्थापित यूनियनों ने अपने क्षेत्रीय संघर्ष को अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान करने के लिये फेडरेशन की स्थापना की।

अपने संघर्ष की शुरुआत से रेल मजदूर अपने लिये एक वेज बोर्ड की स्थापना ; आठ

घण्टे का कार्यदिवस ; नौकरशाही उत्पीड़न से मुक्ति ; महंगाई से मुक्ति व समय-समय पर होने वाली अनावश्यक छंटनी से मुक्ति के लिये संघर्ष करते आये हैं। लेकिन आज भी उपरोक्त समस्याओं का स्थायी समाधान नहीं हो पाया है। ऐसा नहीं है कि संघर्ष का कोई परिणाम नहीं निकला। संघर्षों से ताल्कालिक राहत तो मिली ही है।

रेल मजदूरों के संघर्षों को कमजोर करने के लिए सरकारों ने समय-समय पर कई उपाय किये हैं। जैसे रेल मजदूरों के सक्रिय नेताओं को कुछ विशेष सुविधायें देकर संघर्ष से विरत करने का प्रयास; दीर्घकालिक छंटनी के कार्यक्रम को अपनाना ; मान्यता के नाम पर रेल मजदूरों की यूनियनों को विभाजित करना; वेतन आयोग का गठन कर उनकी परमानेन्ट वेजबोर्ड के गठन की मांग को कमजोर करना व आठ घण्टे के कार्यदिवस की मांग को अतिरिक्त समय भत्ता के द्वारा निष्प्रभावी करना आदि।

1991 में शुरू की गयी नई आर्थिक नीति ने जहां भारतीय जनता के जीवन के समस्त पहलुओं की प्रभावित किया है वहीं पर रेल मजदूरों व रेलवे के सम्पूर्ण ढांचे को तहस-नहस किया है। ढांचागत समायोजन के नाम पर रेल मजदूरों की बड़े पैमाने पर छंटनी की गयी है। कभी भारतीय रेल में 22 लाख मजदूर हुआ करते थे। आज उनकी संख्या घटकर 12 लाख रह गयी है। इसे जल्द ही 7 लाख करने का लक्ष्य तय किया गया है। रेलवे की हजारों एकड़ जमीनें नौकरशाहों ने निजी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को कौड़ियों के भाव सौंप दिया है। कारखानों; वर्कशापों व उत्पादन इकाइयों को नीलाम करने की प्रक्रिया तेज गति से चल रही है। फ्रेट कॉरिडोर के नाम पर भारतीय रेलवे के 63 हजार किमी. के परिपथ को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को सौंपनें का कार्य चल रहा है।

तकनीकी विकास; साजो सामान के उत्पादन व यात्रियों के लिये उपलब्ध सुविधाओं

व कुशल मजदूरों की उपलब्धता की दृष्टि से अगर दुनिया में चल रही अन्य रेलवे से भारतीय रेलवे की तुलना करके देखा जाय तो यह पूरी तरह से ब्रिटिश काल से आज तक बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर निर्भर है। आत्मनिर्भर रेलवे के विकास में नौकरशाही भ्रष्टाचार एक बहुत बड़ी बाधा है।

एक गुलाम देश में उसके मालिकों द्वारा रेलवे की स्थापना की गयी। ब्रिटिश मालिकों ने रेलवे की स्थापना के समय अपने समक्ष जो लक्ष्य रखा वह बहुत ही भयानक था। जिसका दर्द आज भी भारतीय मजदूरों के सीने में मौजूद है। भारतीय रेल के मजदूरों को अधिकारीनता की स्थिति में रखकर निर्मम शोषण किया गया। ब्रिटिश कम्पनियों ने बैइन्टिहा मुनाफा कमाया। इसके लिये उन्होंने जो कार्यसंस्कृति कायम की वह आज भी जारी है। जिस तरह से भारतीय समाज चार वर्णों में विभाजित है। वैसे ही भारतीय रेल के मजदूरों को चार वर्णों में विभाजित किया गया है और हर वर्ण के प्रति सम्मान; सुविधा व अधिकार की स्थिति अलग-अलग है।

भारतीय रेल में मरम्मत ; निर्माण का कार्य करने वाले मजदूरों की स्थिति अन्य

मजदूरों से अलग है। उनके साथ रेल में दोयम दर्जे का व्यवहार किया जाता है। इनकी संख्या 70 प्रतिशत है। इसमें रेलवे लाइन की मरम्मत कार्य करने वाले गैंग मैन; कैरिज एण्ड वैगन स्टॉफ, सिग्नल व इलैक्ट्रिक का कार्य करने वाला स्टॉफ; वाशिंग लाइनों व रेलवे स्टेशनों पर सफाई का कार्य करने वाला स्टॉफ; वर्कशापों, कारखानों व उत्पादन इकाइयों में कार्य करने वाला स्टॉफ तथा विभिन्न तरह के निर्माण कार्य में लगे हुए मजदूर हैं।

रेल मजदूरों ने आजादी के पहले व इसके बाद लगातार संगठित होकर अपने सम्मान व अधिकारों की रक्षा करने के लिये निरन्तर संघर्ष किया है। लेकिन नई आर्थिक नीति लागू होने के बाद जिस तरह से रेल मजदूरों के संगठनों को कमज़ोर करने उनके संघर्षों को कुचलने व बढ़े पैमाने पर छंटनी का अभियान सतर्कतापूर्वक रेल मन्त्रालय चला रहा है, उससे रेल मजदूरों की स्थिति बद से बदतर हुई है।

छंटनी के परिणाम स्वरूप रेल मजदूरों पर कार्य का बोझ असहनीय ढंग से बढ़ गया है। रेलवे विभाग ने अपने द्वारा जो पैमाना बना रखा है कि किस कार्य के लिये

कितने मजदूर चाहिए उसका भी पालन नहीं किया जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के पालन की मांग तो बहुत दूर की बात है। प्रत्येक वर्ष नई-नई गाड़ियां चलाई जा रही हैं, लेकिन मजदूरों की भर्ती नाम मात्र की हो रही है। जहां रेल में 22 लाख मजदूर कार्य कर रहे थे आज उनकी संख्या 12 लाख के आस-पास सिमट कर रह गयी है। कलास थ्री का अधिकांश कार्य व कलास फोर का समस्त कार्य ठेकेदारों को सौंप दिया गया है, जहां मजदूरों से दो से तीन हजार रुपये में कार्य लिया जा रहा है। उन्हें रेल मजदूर का दर्जा हासिल नहीं है। जिस रेल की वे सेवा कर रहे हैं, वह रेलवे उनसे सम्बद्धित कोई भी जिम्मेदारी अपने सर पर लेने को तैयार नहीं है। कार्य के दौरान दुर्घटनाओं का होना आम बात है। लेकिन उन्हें रेलवे के हॉस्पीटल में इलाज कराने का अधिकार नहीं है। रेलवे में कार्य करना जिन्दगी से खेलने जैसा कार्य है लेकिन उन मजदूरों का किसी भी प्रकार का बीमा नहीं होता है। रेलवे में एक यात्री टिकट लेकर यात्रा करता है तो उसका तो बीमा होता है। लेकिन जो रेलवे को गतिमान रखने के लिये कार्य करता है उसका बीमा नहीं है।

पृष्ठ 3 का शेष...

लेकिन ठीक इसी मुकाम पर आज का मज़दूर वर्ग पहले से ज्यादा विभाजित है। जाति-मजहब-क्षेत्र, परमानेण्ट-कैजुअल-ठेका, सरकारी-निजी जैसे बहुविध बंटवारे तो पहले से ही थे, अब इस दौर में सेवा क्षेत्र जैसे नये-नये सेक्टरों के खुलने से श्रमशक्ति का बहुस्तरीय विभाजन हुआ है। वैज्ञानिक प्रबंधन की अपनी तकनीक के जरिए पूँजीवाद ने नये श्रमविभाजन से वैरभावपूर्ण (जलनपूर्ण, दुश्मनाना) सामाजिक रिश्तों का निर्माण किया है। मोबाइल-नेट की दुनिया इसे मुकम्मत बना रही है। उत्पादन के साधन और शोषण के तरीके ज्यादा उन्नत, व जटिल हुए हैं, तो मज़दूरवर्ग के संघर्ष लगभग पुराने रास्ते पर ही चल रहे हैं - नये तरीकों की बात करते हुए भी।

आज हमारे सामने खिखरी किन्तु केन्द्रीकृत असंवली लाइन पर खिखरी हुई मज़दूर आबादी

है। यूं तो ज्यादातर काम ठेकेदारी के मातहत है। उस पर भी मूल कारखाने का अधिकतम काम बाहर होता है, जहां उनके वेण्डर, उनके भी सब वेण्डर और उसके भी नीचे पीस रेट पर काम करने वालों की पूरी एक चेन है। यह स्थानीय स्तर से लेकर वैश्विक स्तर पर फैला हुआ है। इस प्रकार एक ही उत्पाद में लगी पूरी आबादी खण्डों में बिखरी हुई है। थोड़े से परमानेण्ट मजदूरों को छोड़ कर भारी आबादी बेहद कठिन परिस्थितियों व मामूली दिहाड़ी पर खट्टे हुए बेहद जिल्लत की जिन्दगी जीने को अभिशप्त है। संगठित क्षेत्र की होकर भी यह असंगठित आबादी संगठित कैसे हो, यह बड़ी चुनौती है। ऐसे में कभी-कभार होने वाले स्फुट संघर्ष मज़दूरों की चेतना और संघर्षशीलता को आगे ले जाने की जगह कई बार पीछे ढकेल देते हैं। यह

भी होता है कि स्थाई मज़दूर अपने वेतन बढ़ात्तरी की लड़ाई में कैजुअल व ठेका मजदूरों का इस्तेमाल कर ले जाते हैं और वे ठगे रह जाते हैं। संघर्षों के बावजूद मज़दूरों का क्रान्तिकारीकरण भी नहीं हो पाता है।

कहने का कुल तात्पर्य यह है कि आज नये तरीके से चीजों को शुरू करना पड़ेगा। हड़ताल को अन्तिम हथियार ही समझकर संघर्ष के नये तौर तरीके विकसित करने होंगे। जपीनी स्तर पर कामों को केन्द्रित करना होगा।

सार्थक संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए सही रणनीति जरूरी है। और सही रणनीति के लिए वस्तुस्थिति को, मौजूदा हकीकत को समझना बेहद आवश्यक है।

मज़दूर आन्दोलन की इन्हीं चुनौतियों के साथ हम 2012 में प्रवेश कर रहे हैं।

(‘जन ज्वार’ से साभार)

मजदूरी का हकः महिलाओं की स्थिति

■ शिवानी भारद्वाज

ई-मेल- एसएफपी.एसबी@जीमेल.कॉम

निरंतर बदलने वाले विश्व में हालात अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन के 87, 98, 100, 105, 111, 138, 156, 175, 177 और 183वें कनवेनशन संगठन की स्वतंत्रता, सामूहिक रूप से संगठन और सौदेबाजी करने की स्वतंत्रता, समान वेतन/मेहनताना। जबरदस्ती मेहनत करना/बलपूर्वक मेहनत को खत्म करना, नौकरी और रोजगार के क्षेत्र में भेदभाव पर रोक लगाना, बच्चों को काम/नौकरी पर रखने की न्यूनतम आयु, पारिवारिक जिम्मेदारी वाले कामगारों की सुरक्षा, पार्ट-टाइम काम, घर का काम : और मेर्टनिटी (शिशु जन्म के समय का सुरक्षा-बंदोवस्त) की वात कहते हैं।

स्थानीय और राष्ट्रीय दृष्टि से यह स्वीकार कर लिया गया है कि महिलायें हर रोज काम करती हैं (मेहनत करती हैं) चाहे वे कहीं भी रहें, उनका प्रत्येक आर्थिक कार्य-कलाप उनके समुदाय, उनके परिवार और उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता, मानवीय विकास के पूरे समाज की आर्थिक स्थिति के लिये महत्वपूर्ण है। परंतु इसके लिये उनको कोई औपचारिक मान्यता नहीं मिलती। हालांकि वैश्विक मजदूर शक्ति/कार्य शक्ति के 40 प्रतिशत की हिस्सेदार महिलायें ही हैं और विश्व स्तर पर भेदभाव, उत्पीड़न और हिंसा से रहित एक शांतिपूर्ण विश्व की सोच को अपनाती हैं।

अपनी रोजमर्रा की जिंदगी में महिलायें पारिवारिक, जरूरतें पूरी करने में औरों के साथ काम कर व्यस्त रहती हैं। आज के युग में अपनी पहल से विभिन्न स्थानों में रोजगार लिये जाती हैं और जगह बदलती हैं, बनिस्वत इसके कि वे पुरुष प्रवासी मेहनतकश्शों पर निर्भर करें। इसका उदाहरण स्पष्ट रूप से घरेलू काम, खाने-पीने की चीज़ बेचने के काम, ठेके की मजदूरी और देह-व्यापार में देखा जा सकता है। गैर-कानूनी रोजगार एजेंसियों और मालिकों द्वारा शोषण से उपजी मुश्किलें और मुसीबतों को सिर

झुकाकर मान लिया जाता है क्योंकि महिला कामगारों को बिना कीमत चुकाये कोई सुरक्षा प्राप्त करना संभव नहीं दिखता। विकासशील और विकसित दोनों देशों में महिलाओं की नौकरियाँ अक्सर पार्ट-टाइम, कम तनब्बाह वाली अस्थाई, असुरक्षित और अनियमित होती हैं। विश्व के गरीबों में महिलाओं की संख्या पुरुषों की तुलना में बहुत ज्यादा है और इस कारण कारपोरेट शासित वैश्वीकरण और अनियमित व्यापार के दुष्परिणामों की बुराइयों और गरीबी को भुगतने में महिलाएं की ही संख्या अधिक होती है। जनसेवाओं के निजीकरण का पुरुषों की तुलना में महिलाओं पर बहुत अधिक असर पड़ता है कामगार और उपभोक्ता दोनों के रूप में। जैसे-जैसे देश के अंदर और बाहर सामाजिक असमानता बढ़ती है वैसे-वैसे इनको काम करने की जरूरत भी बढ़ती है और इस लिये ऐसे बदलाव लाने जरूरी हैं जो लिंग समानता को बढ़ावा दें, गरीबी उन्मूलन करें और मानव अधिकार तथा पर्यावरण संरक्षण का सम्मान करें।

महिलाओं और पुरुषों को समान अधिकार हैं कि उन्हें सही तरीके से काम करने का हक मिले। एक अच्छी जिंदगी बसर करने की जरूरी शर्त यह है कि महिलाओं और पुरुषों को पड़ोस में कार्यस्थल और घरों में समान रूप से मानव अधिकार हासिल करने का हक हो।

अधिकारों को कैसे हासिल किया जाये महिलाओं के कामों का कम मूल्यांकन या उनका कम मेहनताना प्राप्त करने जैसी मुश्किलाओं को बहुत कम करके आंका जाता है और जान-बूझकर अनदेखा किया जाता है। आजकल कोई भी मुफ्त में काम नहीं करना चाहता चाहे अपने ही घर में काम करना हो। इसीलिये पुरुष को बहुत बड़े शेफ के रूप में होटलों में खाना बनाना मंजूर है, लेकिन घर में उनके शरीर और स्वाद की

जरूरतों को पूरा करने के लिए एक महिला की जरूरत होती है। इस तरह जो लोग संबंधों, और परिवार के बृहत्तर मानव मूल्यों की भलाई के लिये काम करते हैं, उन्हें अक्सर अपने अवमूल्यन (मूल्य घटने) का अहसास होता है क्योंकि सामूहिक सौदेबाजी की प्रक्रिया ने 'क्रीमी लेयर' को ही ज्यादा फायदा पहुँचाया है। इसलिये हालांकि लोग इस बात का दावा करते हैं कि महिलायें ट्रेड यूनियन के कामों और सामान्य आर्थिक व्यवस्था के कामों में संगठित रूप से भाग लेती हैं। लेकिन ज़मीनी सच्चाई बिल्कुल अलग है। हमारा अनुभव यह है कि दिल्ली जैसे शहर में, ऐसे कामों में महिलाओं को सामूहिक रूप से संगठित करना मुश्किल है जिनमें वाजार से प्राप्त होने वाले आर्थिक लाभ जुड़े हों।

सामूहिक गठोड़/संगठन बनाने के लिए अतिरिक्त ऊर्जा और समय की जरूरत होती है। उसका महिलाओं के पास अभाव होता है क्योंकि वे पहले ही घरेलू और सामुदायिक स्तर पर संबंध सुधारने, देखरेख और उत्पादक कामों में लागी रहती है।

एक घरेलू कामगार (कामवाली) को थोड़े पैसे लेकर आधे घंटे काम करना ज्यादा पसंद होगा वनिस्वत इसके कि वह आधा घंटा लोगों को इकट्ठा करने में लगाये जिससे उसको कोई आर्थिक फायदा नहीं। कायदे से आठ घंटे काम करना कानूनी है जिससे कि व्यक्ति को दूसरे कामों का समय मिले लेकिन कामगार और मालिक दोनों को ही ज्यादा समय तक काम करना स्वीकार होता है क्योंकि दोनों को ही इससे आर्थिक लाभ होता है। हालांकि परिवार के अंदर के काम से भी आर्थिक लाभ होता है। लेकिन इसके लिए न तो किसी यू.एन. कनवेन्शन द्वारा और न ही संवैधानिक ढांचे के तहत परिवार के अन्दर के काम के लिए कोई नियम बनाये गये हैं।

श्रमिक अधिकार संगठन और महिलाएं सभी यूनियनों ने कानूनी ढांचे के अंदर समान काम के लिए समान वेतन की मांग की है। लेकिन महिला श्रमिक संगठनों ने, इसके अतिरिक्त, यह भी मांग की है कि रोजगार-संबंध गों से जुड़े हुए सारे सामाजिक अधिकारों के लिए भी अतिरिक्त भुगतान किया जाये। महिला श्रमिक संगठनों के साथ काम करने का हमारा अनुभव यह बताता है कि उनकी अपनी ताकत बहुत कम होने के बावजूद भी वे मर्दों के साथ कंधे से कंधा मिला कर चल रही हैं। इससे उन्हें अपनी भागेदारी बढ़ाने में, आस पास की घटनाओं के बारे में जानकारी बढ़ाने में, और निर्णय की प्रक्रियाओं में अपनी आवाज रखने में मदद मिलती है।

भारत में अनौपचारिक और असंगठित क्षेत्र कई दशकों से स्व-संगठित कोशिशों के जरिये सरकार से सामाजिक सुरक्षा संबंधी लाभ हासिल करने की कोशिश करता रहा है। इसने कोशिश की है कि मालिकों को जयाबदेह बनाने की ऐसी व्यवस्थाएं बनाई जाएँ जिनसे कि संविधान द्वारा प्रदत्त समानता और लाभों के न्यायपूर्ण वितरण को सुनिश्चित तौर पर लागू किया जा सके। महिलाओं का नजरिया सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्थाओं और उनके लागू किये जाने की प्रक्रिया में अपने समावेश पर बल देने के रूप में सामने आया है।

यह एक आम जानकारी की बात है कि बहुत सारे संगठन बिना कोई साझा मोर्चा बनाये अलग अलग काम करते रहते हैं। महिलाओं ने अभी तक यह पाया है कि महिला श्रमिकों के स्वतंत्र संगठनों के जरिये वे अपनी मांगों पर ज्यादा अलग और खास तौर पर दयान खींच पाई हैं। लेकिन उनके लिए पुरुषों द्वारा नियंत्रित यूनियनों और साझे मोर्चों में भी काम करना बहुत महत्वपूर्ण है। खास तौर पर, इसलिए कि घरेलू और संतान संबंधी समस्याओं से उन्हें अक्सर बीच बीच में नौकरी छोड़नी पड़ती है, जो पुरुषों को नहीं करना पड़ता। एक ऐसे समय में जब ज्यादातर रोजगार ठेका-आधारित हो गए हैं, ऐसे रोजगारों में पेंशन की मांग, जहाँ काम में निरंतरता न हो, कम ही सुनाई पड़ती है। एक ऐसे समय में जब रोज़ी-रोटी की सुरक्षा अपने आप में एक चुनौती

बनी हुई है, हमें भेदभाव-उन्मूलन और समावेश का माहौल और ज्यादा मजबूत करने की जरूरत है। कम से कम इतनी कोशिश हो सकती है कि यूनियन की गतिविधियां इस तरह से संचालित हों जहाँ पारिवारिक और बच्चों सम्बन्धी संवेदनाओं और जरूरतों का ख्याल रखा जा सके। हांलाकि इसके लिए यह भी लाजिमी है कि निवास और काम की जगह पहले से ही बनी विकास-योजनाओं में पास पास रखी गयीं हैं।

मजदूरों के लिए भारतीय सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था की सच्चाइयां

भारत सरकार ने असंगठित क्षेत्र के मजदूरों के लिए एक स्वास्थ्य बीमा सुविधा का प्रस्ताव रखा है। मजदूर आंदोलन ने असंगठित क्षेत्र श्रम कानून के जरिये सरकार से इस सम्बन्ध में जो मांग की थी उसकी तुलना में यह बहुत कम है। हांलाकि ज्यादातर बड़ी ट्रेड यूनियनों और असंगठित क्षेत्र के संगठनों ने इसका विरोध किया, पर 'सेवा' (सेल्फ एम्प्लोयेड वीमेन्स एसोसिएशन) ने सरकार का समर्थन किया ताकि जो कुछ मिलने वाला है, कम से कम उतना तो मिल जाए। उनके अलावा, पेनुर्माई इयाक्कम जैसी महिला यूनियनें ये जानती हैं कि महिला श्रमिकों का 95% हिस्सा असंगठित क्षेत्र में ही काम करता है और उनके पास कोई भी सुविधा नहीं है। इसलिए असंगठित क्षेत्र के मजदूरों के लिए सामाजिक सुरक्षा के किसी भी उपाय की अनुपस्थिति का मतलब यह होता कि देश की महिलाओं का एक बहुत ही बड़ा हिस्सा पूरी तरह असुरक्षित रहता। असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों से सम्बंधित जितने भी बिल आज चर्चा में हैं, उनमें से कोई भी घरों के अंदर, पारिवारिक खेतों या व्यवसायों में महिलाओं द्वारा किये जाने वाले उस श्रम की चर्चा नहीं करता जिसके एवज में उन्हें किसी किस्स का कोई भुगतान नहीं किया जाता। ज्यादातर महिलायें काम करती हैं, चाहे उन्हें उसके एवज में भुगतान हो या ना हो। इस श्रम के बेहद स्पष्ट आर्थिक और सामाजिक मूल्य के बावजूद महिलाओं द्वारा किया जाने वाला ज्यादातर काम राष्ट्रीय लेखों और जनगणनाओं में भी अनदेखा रह जाता है और 'अनौपचारिक क्षेत्र' की परिभाषाओं और सकल घरेलू उत्पाद

के आकलनों में भी अनदेखा रह जाता है। नेशनल सैम्प्ल सर्वे (एन.एस.एस.) 1999-2000 के अनुसार अनुमान था कि भारत में असंगठित क्षेत्र के मजदूरों में करीब एक तिहाई, लगभग बारह करोड़, महिलाएं थीं। अगर ज्यादातर महिलाओं द्वारा किये जाने वाले 'मुफ्त' काम को भी इसमें जोड़ा जाये तो यह सच्चा बहुत बड़ी होगी।

असंगठित क्षेत्र के मजदूरों द्वारा सामाजिक सुरक्षा के लिए की जाने वाली मांगों में भुगतान-रहित या 'मुफ्त' महिला श्रमिकों को असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों के हिस्से के तौर पर चिह्नित किया गया है और उनकी मांगों को शामिल किया गया है। इसके विपरीत पुराने विधेयकों और कानूनों में न केवल 'मुफ्त' में काम करने वाले महिला श्रमिकों को छोड़ दिया गया है, बल्कि भुगतान किये जाने वाले ऐसे बहुत से कामों को भी छोड़ दिया गया है जहाँ की श्रम-शक्ति में महिलाओं का बहुत बड़ा हिस्सा है, जैसे घर से काम करने वाले श्रमिकों की बहुत सी श्रेणियाँ। बहुत से मजदूर आन्दोलनों, और खास तौर से असंगठित क्षेत्र के आन्दोलनों, ने लगातार यह मांग उठाई है कि महिला कामगारों की सारी श्रेणियों को असंगठित क्षेत्र के मजदूरों की परिभाषा में जोड़ा जाये, जैसे भुगतान-रहित या 'मुफ्त' मजदूर, घरेलू कामगार, सेक्स कामगार, संगठित और असंगठित मनोरंजन उद्योग के कामगार, मौसमी और स्थाई रूप से प्रवासी मजदूर, फेरी वाले, कृषि-पूर्व के व्यवसाय और वन-श्रमिकों की श्रेणियाँ जो शिकारी या वन-उपज को डकड़ा करने के काम में लगी हैं।

बहिष्कृत समुदायों की महिलाओं के संगठन दलित, आदिवासी और मुस्लिम महिलाओं के साथ इसलिए भी काम करना जरूरी है कि वे कामगारों के तौर पर अपना स्वरूप मजबूत कर सकें। हर बहिष्कृत समुदाय में महिलाओं के अपने अलग संगठन हैं। लेकिन अपने समुदायों में महिलाओं की संसाधनविहीनता पर अपनी आवाज सुना कर वे वापस अपनी निजी पहचानों में लौट जाते हैं।

महिलाएं जिन व्यवस्थाओं की आलोचना करती हैं, फिर वापस उन्हीं में लौट जाती हैं। इसलिए नहीं कि वे ऐसा करना चाहती हैं,

बल्कि इसलिए कि परिवार और समुदाय के रिश्ते महत्वपूर्ण हैं। मानव जाति का समाजीकरण जिस अंदाज में हुआ है, उसमें यह उम्मीद की जाती है कि महिलाएं अपने निजी हितों को पारिवारिक हितों से हमेशा पीछे ही रखेंगी। महिला श्रमिक अधिकारों के क्षेत्र में आगे बढ़ने की एक रणनीति यह हो सकती है कि एक स्तर पर तो सामुदायिक संगठन बनाये जाएँ और साथ ही दूसरी तरफ उन्हें जाति और वर्ग का मिश्रण बनाते हुए अपने आर्थिक समूहों में भी संगठित किया जाये।

दलित समुदायों की ज्यादा औरतें अपने खेतों पर काम करने के बजाय उजरती मजदूर के रूप में काम करती हैं। यह इस बात का सूचक है कि दलित औरतों के पास उत्पादक संसाधनों की उपलब्धता और उन तक पहुँच कम है। थोराट ने अपने 2001 के अध्ययन में बताया कि दलित आदिवासी समुदायों में खेतिहार उजरती मजदूरों की संख्या ज्यादा (क्रमशः 57% और 37%) थी। जबकि गैर दलित-आदिवासी समुदायों में यह संख्या सिर्फ 29% थी। शहरी क्षेत्रों में उजरती महिला मजदूरों का प्रतिशत गैर दलित-आदिवासी समुदायों में 6 था जबकि दलित-आदिवासी समुदायों में क्रमशः 16 और 14 था। दूसरी तरफ महिला किसानों की संख्या आदिवासी और गैर दलित समुदायों में दलित समुदाय के बजाय ज्यादा थी। यह पाया गया कि मजदूरी की दैनिक दरों में एक तरह का भेदभाव है। अध्ययन के मुताबिक, खास तौर पर शहरी क्षेत्रों में, दलित-आदिवासी महिलाओं के लिए ये दरें क्रमशः 37 रुपये और 34 रुपये थी। जबकि गैर दलित-आदिवासी महिलाओं के लिए यह दर 56 रुपये थी। इसके अलावा, विभिन्न जातिगत पूर्वाग्रहों के कारण दलित महिलाओं की एक भारी आबादी ऐसे पेशों में लगी हुई है जिन्हें 'गंदा' समझा जाता है, जैसे मल साफ करना। ऐसे पेशों से अपने परंपरागत जुड़ाव के कारण दलित महिलाओं को सामाजिक और आर्थिक धेरों में और अधिक भेदभाव झेलना पड़ता है।

दलित, आदिवासी और मुस्लिम महिलाओं के खिलाफ इन भेदभावों और बहिष्कारों के साथ घर में, काम की जगह पर और राजनैतिक

वातावरण में भी एक हिंसा का साम्राज्य फैला हुआ नजर आता है। आंध्र प्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश, तमिलनाडू और पांडिचेरी के 17 जिलों की 32 पंचायतों की 500 महिलाओं पर किये गए एक शोध के मुताबिक सिर्फ दलित महिलाओं पर होने वाली हिंसा के विभिन्न प्रचलित स्वरूपों के बारे में ये तथ्य सामने आये- गालियाँ 62.4%, शारीरिक हमले 54.8% यौनिक उत्पीड़न और हमले 46.8%, घरेलू हिंसा 43%, और बलात्कार 23.2%। अन्य किस्म की हिंसाओं में शामिल थे। जबरदस्ती सेक्स कार्य, अपहरण, स्वास्थ्य की अनदेखी और यौनिक शोषण। इन प्रचलित हिंसाओं के स्थानों में शामिल थे- सार्वजनिक स्थान, घर के अंदर, काम की जगह, शोषक का घर और सरकारी कार्यालय। जिन लोगों ने हिंसा की ये वारदातें कीं, उनमें ज्यादा संख्या जर्मीदारों, पुलिस और वन विभाग के कर्मचारी, बिजनेस करने वाले, गुड़े, राजनीति करने वाले, पेशेवर लोग, अन्य प्रभावी जातियों के लोग, और दलित समुदाय के लोग भी शामिल थे। 40.2% मामलों में महिलाओं को न तो कानूनी प्रक्रिया से न्याय मिला और न ही सामुदायिक प्रक्रिया से। अत्यावारियों द्वारा, पुलिस द्वारा, और कभी कभी तो परिवार के सदस्यों द्वारा भी महिलाओं को अपने लिए न्याय की लड़ाई लड़ने से रोका गया। केवल 1.6% मामलों में ही महिलाओं को अनौपचारिक किस्म का न्याय पाने में सफलता मिली। इस प्रकार इस अध्ययन ने इस बात को रेखांकित किया कि सरकारी नीतियों को चाहिए कि वे जाति और जेंडर के परस्पर गुण्फल को जीवन के अधिकार, सुरक्षा और (यातनाओं, क्रूर और अमानवीय या गंदी सजाओं और व्यवहार से) स्वतंत्रता के अधिकार के उल्लंघन के तौर पर स्वीकार करें और तदनुरूप हल निकालें।

हर किस्म की जगहों पर यह जरूरी है कि ऐसी बहुत सारी उत्पादन और घरेलू किस्म की जगहों हीं जिनका प्रबंध और स्वामित्व औरतों के हाथ में रहे। महिला श्रमिकों को उनके सामुदायिक समूहों में इस तरह भी संगठित करना होगा जिससे वे समझ सकें कि उनकी सुरक्षा सिर्फ सरकारी ढाँचे द्वारा की जाने वाली निगरानी से ही नहीं आएगी। इसके लिए उन्हें

ऐसी बहुत सारी भौतिक जगहों पर अपना दावा पेश करना होगा जिनका प्रबंध महिलाओं के हाथों में रहे ताकि बहुत सारी दूसरी महिलाएं उन जगहों और सुविधाओं का उपयोग कर सकें।

खेती की जमीन और साझे संपत्ति-संसाधनों से ग्रामीण समुदायों को विस्थापित करके बनाए गए विशेष आर्थिक क्षेत्रों (सेज) में (गांधीजी और अंतरराष्ट्रीय) निजी कंपनियों ने निवेश किया है। रिलाइंस, नोकिया, हिंदुई और सैमसंग जैसी कंपनियों ने ऐसे क्षेत्रों में निवेश किया और, उद्धारण के लिए, चेन्नई, बैंगलोर और कांचीपुरम को जोड़ने वाली मुख्य सड़कों के किनारे किनारे बड़े बड़े कारखाने खड़े किये हैं। ये कारखाने सिर्फ कुशल मजदूरों को ही नौकरी पर नहीं रखते। वे ग्रामीण इलाकों से आने वाले अकुशल शारीरिक श्रम करने वाले मजदूरों को भी काम पर रखते हैं जिनमें ज्यादातर ग्रामीण पंचायतों की मदद से जुटाई गई युवा महिलाएं और लड़कियां होती हैं।

कंपनी की बसें हर सुबह आती हैं और उन्हें घर पर उनके आश्रितों से दूर ढोकर उनकी काम की जगह पर ले जाती हैं। गरीबी के कारण बहिष्कृत समुदायों के परिवारों के हर सदस्य को परिवार के गुजारे के लिए कुछ न कुछ कमाई करने को मजबूर रहना पड़ता है। इसलिए युवा लोग, खासकर लड़कियां, अपनी पढ़ाई छोड़ कर काम पर लग जाती हैं। लगभग सारी दलित मजदूरिनें वयस्क होने से पहले ही मजदूरी के बाजार में प्रवेश कर चुकी होती हैं। दलित समुदायों की सारी लड़कियों में से 20.31% लड़कियां बाल श्रमिकों के रूप में काम करती हैं। नारी-श्रम की जरूरत खेती में भी होती है और घर में भी। इसलिए सबसे पहले लड़कियों को ही शिक्षा से बचाया जाता है और उन्हें जबरदस्ती स्कूल से बाहर कर दिया जाता है। इसलिए दलित लड़कियों में हर स्तर पर ही स्कूल से निकलने की दर ज्यादा है। माध्यमिक स्तर तक 83% दलित लड़कियां स्कूल से बाहर हो चुकी होती हैं। इस सबके के अतिरिक्त घर चलाने और घर को साफ-सुधरा रखने की मुख्य जिम्मेदारी महिलाओं को ही निभानी पड़ती है। सच्चाई तो यह है कि

विस्थापन, पलायन और परित्यक्ता जैसे कारणों से 70-75% दलित परिवारों को गाँवों में महिलाओं के ही नेतृत्व में चलना पड़ता है। अगर इस बात पर भी ध्यान दिया जाय कि 70% दलित परिवारों के पास बिजली नहीं है, 90% से अधिक दलित परिवारों के पास शौचालय नहीं है, तो यह बात और आसानी से समझ में आती है कि क्यों दलित महिलाओं और लड़कियों को अपना घरेलू काम करने में,

पानी-चारा-ईंधन-भोजन इकट्ठा करने में बहुत ज्यादा समय और ऊर्जा लगानी पड़ती है। बहुपरती जाति व्यवस्था दलित महिलाओं के जीवन के सिर्फ सामाजिक पहलू को ही प्रभावित नहीं करती, यह उनके जीवन के आर्थिक और व्यवसायगत पहलुओं को भी प्रभावित करती है। दलित महिलाओं के जीवन की व्यवसायगत और रोजगार संबंधी स्थितियों को तय करने में जमीन और ब्रह्म जैसे संसाधनों पर उनके

अधिकार और शिक्षा और आधुनिक कौशलों तक उनकी पहुँच के अलावा श्रम की गतिशीलता पर लगे बंधनों की भी बड़ी भूमिका होती है। गाँवों पर हुए बहुत सारे अध्ययनों ने इस बात की ओर इशारा किया है कि किस तरह श्रमिकों को नौकरी देने में, उन्हें कम और ज्यादा मजदूरी की दर देने में महिलाओं के खिलाफ, और दलित-आदिवासी महिलाओं के खिलाफ भेदभाव होता है।

बीड़ी श्रमिक आज भी शोषण के शिकार

मध्यप्रदेश की सीमा से सटा हुआ इलाहाबाद जनपद के जसरा ब्लॉक के अन्तर्गत आने वाला करमा बाजार बीड़ी श्रमिकों की सबसे अधिक संख्या वाला इलाका है। इलाहाबाद के आस-पास का कई जनपदों के बीच स्थित क्षेत्र उत्तर प्रदेश के बीड़ी उत्पादन का इकलौता सबसे बड़ा इलाका है। मध्यप्रदेश के समीपवर्ती इलाकों में होने वाला तेंदू पत्ते का उत्पादन इसकी मुख्य वर्जन है। यहाँ के आर्थिक रूप से कमज़ोर लोगों का मुख्य व्यवसाय बीड़ी उत्पादन है। इलाहाबाद जनपद में लगभग 60 हजार बीड़ी श्रमिक बीड़ी उत्पादन के काम में लगे हैं। जिनमें सबसे अधिक महिलायें और युवतियाँ हैं। इलाहाबाद में बीड़ी उत्पादन के प्रमुख बड़े इलाके फूलपुर, प्रतापपुर, हंडिया और हनुमानगंज हैं। जबकि प्रमुख गाँव/मोहल्लों में गौहनिया, पूरा फतेहमोहम्मद, मडोका, जेल रोड नैनी, नखासकोहना, करैली, दरियाबाद, चकिया, राजापुर, बेली, तुरकाना, छोटा बघाड़ा, तेलियरांगंज, कर्नलगंज, आदि हैं।

ज्यादातर बीड़ी श्रमिक बहुविध शोषण के शिकार हैं। तमाम सरकारी योजनाओं और प्रयासों के बावजूद वे समाज के निम्नतम पायदान पर स्थित हैं। बीड़ी श्रमिकों के कार्य की विशेष प्रकृति के कारण इन्हें कई प्रकार की स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्यायें होती हैं। जैसे दमा, टी० बी०, किडनी का फेल होना, गठिया, कूबड़ का निकलना आदि। इनके उपचार के

लिए बनाई गई सरकारी योजनाओं का लाभ बीड़ी श्रमिकों तक नहीं पहुँच पाता है। क्योंकि उनके अन्दर जागरूकता का अभाव है और सरकारी तंत्र की लालफीताशाही से निपटने में भी वे आम हैं।

बीड़ी श्रमिकों में ज्यादातर मुस्लिम और अनुसूचित जाति तबके के लोग हैं जिनका कई तरह से आर्थिक शोषण किया जाता है। असंगठित कामगार श्रमिक यूनियन उत्तर प्रदेश (अक्सू) द्वारा आयोलन किये जाने के पश्चात राज्य सरकार ने प्रति हजार बीड़ियों पर पारिश्रमिक 80 रुपये तय कर दिया परन्तु बीड़ी कम्पनियों के ठेकेदार बीड़ी श्रमिकों को मात्र 55-60 रुपये ही देते हैं। एक कुशल बीड़ी मजदूर औसतन 500 बीड़ियों प्रतिदिन के हिसाब से बना सकता है। इस हिसाब से साधारण मजदूरों की तुलना में भी बीड़ी मजदूर आर्थिक रूप से अधिक शोषित हैं। जबकि तकनीकी रूप से देखा जाये तो बीड़ी बनाना एक प्रकार का कुशल श्रम है। आजकल आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों में हो रही बेतहाशा बढ़ोत्तरी के मद्देनजर बीड़ी श्रमिकों की माली हालत का अन्दाजा सहज ही लगाया जा सकता है।

आर्थिक समस्याओं में ठेकेदारों द्वारा किया जाने वाला शोषण, संगठित क्षेत्र के मजदूरों को मिलने वाले लाभों से वंचित होना आदि हैं। जबकि इनके चलते स्वयं तथा बच्चों का लगातार कुपोषण, घोर अशिक्षा, बेहतर

जीवन-स्तर का हर प्रकार से अभाव आदि अनेक विकारात् समस्यायें जन्म लेती हैं। दूसरी ओर बीड़ी बनाने के काम से होने वाली स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं के कारण रोज-रोज डॉक्टरों के चक्कर लगाना उनकी मजदूरी बन चुकी है। बीड़ी श्रमिकों के आर्थिक, मानसिक और शारीरिक शोषण को ध्यान में रखते हुए उनके लिए आवासीय योजना, क्षेत्रों में स्वास्थ्य शिविर लगाना, पुत्रियों की शादी के लिए अनुदान योजना में सरलता लाना, बीड़ी रोलर्स और रोलाई पैकरों के वेतन की व्यवस्था करना, बीड़ी मजदूरों की पूरी मजदूरी दिलाना सुनिश्चित करना आदि प्रमुख मांगे हैं। दूसरी ओर बीड़ी श्रमिकों के बच्चों की अच्छी और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा भी सुनिश्चित किया जाना आवश्यक है। हजारों करोड़ रुपयों की योजनाओं के बावजूद ये योजनायें आम बीड़ी श्रमिक की पहुँच से कासों दूर हैं और ये बद से बदतर जीवन जीने को मजबूर हैं। इनका शोषण कई स्तरों पर होता है और यही कारण है कि आज के इस कम्प्यूटर युग में बीड़ी श्रमिक दो वक्त की रोटी के लिए भी संघर्षरत हैं।

■ नाजिम अंसारी/अभिषेक
(असंगठित कामगार श्रमिक यूनियन,
उत्तर प्रदेश)

28 फरवरी, 2012 की अखिल भारतीय हड़ताल के समर्थन में

“हमारा संघर्ष अब इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था में सिर्फ अपना हिस्सा पाने का नहीं, बल्कि मजदूर वर्गीय राजनीतिक जन आंदोलन से एक न्यायपूर्ण समाज बनाने का है।”

■ आत इंडिया वर्कर्स कौन्सिल

भारत सरकार की जन विरोधी आर्थिक नीतियों के खिलाफ घोषित यह हड़ताल ट्रेड यूनियनों की एकजुटता का एक स्वागतयोग्य कदम है। देश के सामाजिक-आर्थिक संचालन के लिए सरकार द्वारा मनमाने तरीके से बनाये एवं लागू किये जाने वाली नीतियों का दुष्परिणाम आज हमारे सामने है। समाज का हर तबका परेशान-बेहाल है। समाज की हर आवश्यकता का उत्पादन करने वाले मजदूर वर्ग और गरीब किसानों की इतनी दयनीय स्थिति पहले कभी नहीं थी। गत नीतियों के कारण समाज के इस बुनियादी तबके का एक बड़ा हिस्सा हर साल ‘खैरात’ पर पलने वालों की जमात में शामिल होता जा रहा है। अपनी मेहनत की कमाई पर जीने वाला व्यक्ति मौजूदा व्यवस्था की नजर में सबसे गया-गुजरा है, और जो जितना बड़ा परजीवी और भ्रष्ट है, वह उतना ही सम्मानित नागरिक। इसी, सर के बल खड़ी व्यवस्था को ये विकास कहते हैं और इसे पैरों के बल पर खड़ा करने की जनता की कोशिशों को विकास विरोधी घोषित करके उसका दमन करते हैं।

आजकल हर छुटभैया नेता से लेकर राष्ट्रीय नेता तक सिर्फ विकास की चर्चा करता है, नीतिगत सवालों पर चर्चा हर जगह प्रतिबन्धित है, उसे विद्रोह माना जाता है। हम अच्छी तरह जानते हैं कि ‘विकास’ का उनके लिए अर्थ है उनकी दलाली की रकम में वृद्धि और हमारे लिए लगातार बढ़ते टैक्स, महगाई, घटती मजदूरी, बेरोजगारी आदि। इस व्यवस्था में आज न तो मजदूर वर्ग के लिए कोई सुरक्षित कोना बचा है, न किसानों के लिए और न ही दूसरे मेहनतकश वर्गों के लिए। सबको विकास के ढंडे से हांका और तबाह किया जा रहा है। राजनीति, लोकतंत्र और न्याय की बात करने से ‘उनका देश’ खतरे में पड़ जाता है। पिछले 20 वर्षों में

चीजें विकसित होकर उस मुकाम पर पहुंच गयी हैं, कि अपने-अपने हिस्से की छोटी-बड़ी सुविधाओं को पाने की अलग-अलग सामाजिक-आर्थिक समूहों (मजदूर-किसान-नौजावान आदि) की स्वतंत्र लड़ाइयों का औचित्य ही समाप्त होता जा रहा है। सर के बल खड़ी इस व्यवस्था में सिर्फ अपने हिस्से का सुख प्राप्त करने का एक ही रास्ता है, अपने लोगों के खिलाफ उनका दलाल बन जाना। एक ऐसा समाज जिसमें दलाली मुख्य आर्थिक-सामाजिक गतिविधि बना दी गई हो, उसमें क्या न्याय की अपेक्षा की जा सकती है?

देश का मजदूर वर्ग समाज में हो रहे इन परिवर्तनों से न तो बेखबर रह सकता है, और न ही इस वास्तविकता से कटकर अपने संघर्षों को आगे बढ़ा सकता है। यह ठीक है कि इस दौरान सरकारी क्षेत्र के स्थाई मजदूरों की पगारें पहले से बेहतर हुई हैं और कारपोरेट क्षेत्र में ऊपरी स्तर पर कार्यरत लोगों को बहुत अच्छे पैकेज मिल जाते हैं। लेकिन यह आधा सच है। यदि इस वृद्धि की तुलना पूरे मजदूर वर्ग के लाभों-अधिकारों में हुई गिरावट से करें, तो यही नतीजा निकलेगा कि निजी तौर पर लाभान्वित होने के बावजूद, हम पूरे मजदूर वर्ग के एक हिस्से के बतौर लगातार पीछे जा रहे हैं। यदि इस व्यवस्था में पूरा मजदूर वर्ग पीछे ढकेला जा रहा है, तो हम कब तक खुद को बचाये रख पायेंगे। आज तो पूरा समाज पीछे ढकेला जा रहा है, एक प्रतिशत लुटेरों के हितों के लिए निन्यानवे प्रतिशत लोगों के हितों की बलि चढ़ाई जा रही है, तो हम खुद को अपने निजी हितों की लड़ाई तक कैसे सीमित रख सकते हैं? यह समय है अलग-अलग चलने वाली सभी छोटी-छोटी लड़ाइयों को जोड़कर एक व्यापक जन आंदोलन संगठित करने का। यह काम करने का दायित्व ऐतिहासिक

तौर पर मजदूर वर्ग का है लेकिन अभी आज जनता आगे है और हमारी उपस्थिति बहुत कम। इस असंतुलन को ठीक करना हमारा फौरी दायित्व है।

इस एकता की बुनियादी शर्त है कि सभी सामाजिक-आर्थिक समूहों के हितों को एक स्पष्ट राजनीतिक सवाल के रूप में रखा जाय, न कि कुछ सुधारों-लाभों के मांग पत्रक के रूप में। इसी से जनविरोधी राजनीति के विकल्प के तौर पर जनता के हितों की राजनीति उभर कर सामने आयेगी और जन आंदोलनों को नई ऊर्जा मिलेगी। संकटग्रस्त पूंजीवादी विश्व व्यवस्था अपने गर्भ से लगातार पूरी दुनिया में जन आंदोलनों को पैदा कर रही है। लोग अपनी बेबसी और आंसुओं को युद्ध की घोषणा में बदल रहे हैं। अभी लोगों के सामने यह प्रश्न है कि उन्हें क्या-क्या चाहिए, धीरे-धीरे यह समझ भी आ जाएगा कि यह कैसे मिलेगा, फिर उनके पास स्पष्ट कार्यक्रम होगा और स्पष्ट राजनीति होगी। यही वह प्रक्रिया है, जिसमें मजदूर वर्ग को राजनीतिक तौर से आगे बढ़े हुए समूह के रूप में अपनी जिम्मेदारी निभानी है। तभी खुद उसके मुक्ति की ओर पूरी मानवता की मुक्ति की लड़ाई आगे बढ़ेगी। हमें यह समझ लेना है, कि अब चीजें रुकेंगी नहीं। यह हमारे लिए फैसले का वक्त है, विशेष तौर पर संगठित क्षेत्र के मजदूरों के लिए, अपने-अपने निजी सुखों की गुफाओं से बाहर निकलकर जन आंदोलनों की राजनीतिक अगुवाई करने का। हमारी अपील है कि यह हड़ताल हमारी वास्तविक राजनीतिक सक्रियता का प्रस्थान बिन्दु बने।

तोभ, लालच, मुनाफे, सट्टेवाजी, अनैतिकता और अन्याय के मूल्यों पर टिकी नई विश्व व्यवस्था और पुराने-नये साम्राज्यवादी देशों की आपसी आपराधिक होड़ अब पूरी दुनिया खासकर एशिया-अफ्रीका को एक

युद्ध क्षेत्र, जेलखानों और मनुष्यता की कल्पगाह में बदलती जा रही है। राज्य सत्ता व्यवस्था का स्वरूप लगातार हिंसक और निरंकुश होता जा रहा है। आर्थिक संकट के बढ़ने के साथ-साथ आम जनता के प्रति इसकी आक्रमकता भी बढ़ती जा रही है। एक तरफ आम जन की लोकतांत्रिक आकांक्षायें बढ़ती जा रही हैं तो दूसरी तरफ व्यवस्था के लोकतंत्र का दायरा लगातार सिकुड़ रहा है। सरकारों और सरकारों को बनाने वाली जनता के बीच की दूरी बढ़ती जा रही है। आम मेहनतकश जनता के दुःख-दर्द के समाधान की बात तो दूर, सरकारें अब इन बातों को सुनना भी नहीं चाहतीं। गरीब मजदूर किसान के लिए पूँजीशाहों की दुनिया लगातार अधिक बेरहम और अपमानजनक होती जा रही है। उनकी इस बर्बादी और लुटेरी व्यवस्था में आम मेहनतकश जनता के लिए अब कोई स्थान नहीं बचा है। देश की नब्बे फीसदी जनता से दुश्मनी मौल लेकर और सिर्फ खेराती कार्यक्रमों के भरोसे आखिर यह व्यवस्था कब तक चल पायेगी? यदि मजदूर वर्ग राजनीतिक तौर पर खड़ा हो जाये, तो चीजों के बदलने में देर नहीं लगेगी। सरकारें यह भूल रही हैं कि अदना से अदना व्यक्ति भिखारी की तरह नहीं बल्कि एक इंसान की तरह व मानवीय गरिमा के साथ जीना चाहता है। लोगों की यही इच्छा दुनिया को आगे ते जाती है, न कि कारपोरेट मुनाफा या शेयर बाजार।

कितनी विडम्बना है कि आज मानव जीवन की हर आवश्यकता की पूर्ति का सामान बाजार में मौजूद है और देश के उत्पादक कर्मों के भीतर इसको कई गुना बढ़ाने की क्षमता भी है। फिर भी लोग भूख से, दवाओं के अभाव में, आवास के अभाव में, ठंड से, गर्मी से, गंदगी से पैदा हुई बीमारियों से, शुद्ध पेय जल की कमी से और तमाम गैर-जरूरी कारणों से भर रहे हैं। सरकार इन मरते हुए लोगों का आंकड़ा और मरने के बाद दिये गये अनुदान का ब्यौरा प्रस्तुत करके अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाती है। क्या मानव जीवन महज एक आंकड़ा है? पूँजी की सर्वोच्चता पर टिकी

व्यवस्था मानव जीवन को एक संख्या, एक आंकड़ा बना देती है। चारों तरफ आंकड़ों की बाजीगरी, जो मनुष्यों की दुनिया को मनुष्यता से हीन बनाती जा रही है। क्या हम नहीं मानते कि जन्म से हर स्त्री-पुरुष बराबर है, हर व्यक्ति का दुःख-दर्द एक जैसा होता है, हर बच्चे की एक जैसी आवश्यकतायें होती हैं? यदि हम मानव समाज के लिए आवश्यक इन सामान्य सिद्धांतों को मानते हैं, तो इस व्यवस्था को इन नियमों की कसौटी पर परखें, नतीजा सामने होगा। हमारे देश के कर्णधार हमें बर्बरता के युग की ओर चापस ले जा रहे हैं। मानव जीवन से पवित्र कुछ भी नहीं है, इस सत्य को किसी भी व्यवस्था के केंद्र में स्थापित करने का दायित्व हमारा है, मजदूर वर्ग का है। वास्तव में मजदूर वर्ग की मुक्ति का संघर्ष समाज में मनुष्यता, समता व न्याय की स्थापना के संघर्ष से जुड़ गया है। अब मजदूर आंदोलन को पूरे समाज, देश और विश्व शांति के सवालों से जुड़कर आगे बढ़ाना होगा।

हम देश की 45 करोड़ की संख्या वाले अपने मजदूर वर्ग के भीतर की असमानता और अलगाव को देखें। औद्योगिक मजदूरों और खेतिहार मजदूरों के फर्क को देखें। सरकार की उस नीति को देखें, जो संगठित क्षेत्र के उद्योगों-कार्यालयों में कार्यरत लोगों के एक बड़े हिस्से को ठेका संविदा मजदूर में तब्दील करके उन्हें सभी श्रम अधिकारों से वंचित करती जा रही है। सामाजिक न्याय और सामाजिक समानता की वकालत करने वाली राजनीतिक पार्टियां भी इस सामाजिक असमानता पैदा करने वाली नीतियों के साथ खड़ी होकर गरीबों की लड़ाई को पूँजीशाहों के हाथों बेच रही हैं। सामाजिक समानता की लड़ाई आज सिर्फ मजदूर वर्ग की लड़ाई के बल पर ही लड़ी जा सकती है। इसके लिए यह जरूरी है कि मजदूर आंदोलन में हम सबसे पहले अपने वर्ग के भीतर मौजूद असमानता को अपना एजेंडा बनायें। इससे पूरा मजदूर वर्ग राजनीतिक तौर पर एकजुट होगा। राजनीतिक रूप से एकजुट मजदूर आंदोलन का यह काम है कि वह खुद को असमानता के बुनियादी सवालों के

जनआंदोलनों से खुद को जोड़े। यह सारे प्रयास एक साथ चलेंगे। इन प्रयासों को लगातार संगठित रूप देते जाना है। यही प्रक्रिया हमें भविष्य की राह दिखायेगी और देशव्यापी स्तर पर लगातार हो रही हलचलों को एकसूत्र में पिरोकर एक राजनीतिक जन आंदोलन का रूप देगी। हमें अब मनुष्यता विहीन असंवेदनशील बर्बर दुनिया स्थीकार नहीं है। हमें चाहिए एक जीवंत, मनुष्यता के गुणों से भरपूर और मुक्त नयी दुनिया। हमारी पीढ़ी इस नयी दुनिया के प्रवेश द्वार पर खड़ी है। सिर्फ हमें अपनी राजनीति को थोड़ी और धार देनी है और थोड़े त्याग के लिए संकल्प करना है। हमें सभी शोषित उर्ध्वाङ्गित लोगों के साथ मिलाकर एक नयी दुनिया बनानी है। आइये इसके लिए आज से ही थोड़ा समय देना शुरू करें।

मजदूरों की बस्ती

मजदूरों की बस्ती नहीं होती
वे जहां रुक जाते हैं
बस जाती है वहीं उनकी बस्ती

वहीं सुलगने लगता है उनका चूल्हा
वहीं उठने लगती है सौंधी सुगंध
और वहीं पकने लगती है उनकी रोटी
वहीं खेलने लगते हैं उनके बच्चे
और वहीं पलने लगते हैं
उनकी आंखों में सपने

और बस इतने से सुख से ही खुश होकर
वे उठा देते हैं ऊंचे-ऊंचे भवन
और इमारतें
बसा देते हैं बड़ी-बड़ी बस्तियां
और निकाल देते हैं
दुर्गम पहाड़ों और बीहड़ जंगलों के बीच
से रास्ते
सिर्फ इतने से ही सुख से खुश होकर
वे बसा सकते हैं
एक बिल्कुल ही नई दुनिया।

- राजनी अनुरागी

अंतर्राष्ट्रीय मजदूर दिवस

सन 1886 से ही मई दिवस पूरी दुनिया में मजदूरों का दिन रहा है, जब यह घोषणा हुई कि “एक मई 1886 से कानूनी रूप से वैध काम का दिन आठ घंटों का ही होना चाहिए”।

आठ घंटे के कार्यदिवस की मांग श्रमिक वर्ग के लिए एक बेहद महत्वपूर्ण राजनैतिक मांग रही है, मई दिवस का उदय छोटे काम के दिन की मांग के संघर्ष के साथ घने रूप से जुड़ा रहा है। अमेरिका में कारखानेदारी की शुरुआत से ही काम के घंटे कम करने का संघर्ष रहा हालांकि, अमेरिकी उद्योग के इन शुरुआती दिनों में बेहतर मजदूरी की मांग हड़तालों की ज्यादा प्रमुख कारण थी फिर भी, जब कभी मजदूरों ने अपने अधिकारियों और सरकारों के खिलाफ अपनी मांगें रखीं, तो काम के घंटे कम करने और संगठन बनाने के अधिकार की मांगे हमेशा बिलकुल आगे रखी गयी।

कार्यदिवस को छोटा रखने का आन्दोलन सिर्फ अमेरिका में ही नहीं देखा गया गया, यह आंदोलन हर उस जगह था जहां उभरती पूँजीवादी व्यवस्था मजदूरों के शोषण में लिप्त थी। यह इस बात से भी साफ है कि बहुत दूर के देश ऑस्ट्रेलिया में, सन 1856 में ही निर्माण मजदूरों ने नारा दिया कि “आठ घंटे काम, आठ घंटे आराम और आठ घंटे मनोरंजन”, वे इस संघर्ष में सफल रहे, अमेरिका के मजदूरों को ऐसी सफलता मिलने से काफी पहले भी ऐसा हो चुका था।

फिर भी आठ घंटे के काम के दिन आंदोलन (जिसने मई दिवस को जन्म दिया), की उत्पत्ति को समझने के लिए हमें सन 1884 के अमेरिका में शुरू हुए आम मजदूर आंदोलन की बात करनी होगी, नेशनल लेबर यूनियन ने 1866 में आठ घंटे के काम की मांग का फैसला किया था, उसी वर्ष सिम्बर के महीने में, “प्रथम अंतर्राष्ट्रीय” के जेनेवा सम्मलेन ने औपचारिक रूप से इस मांग का इन शब्दों में जिक्र किया—“काम के दिन में घंटों पर कोई सीमा लगाये बगैर मजदूर वर्ग की मुक्ति और उसके हालात में सुधार की बात बेमानी है। सम्मलेन यह

मांग करता है कि काम के दिन पर आठ घंटे की कानूनी सीमा लगाइ जाए”।

सन 1885 में लेबर फेडरेशन के सम्मलेन में यह प्रस्ताव पास किया गया कि अगले वर्ष पहली मई को सारे मजदूर अपने कारखानों से बाहर हड़ताल पर जायेंगे, बहुत सारी राष्ट्रीय यूनियनों ने इस संघर्ष की तैयारी के लिए काम करना शुरू कर दिया, इनमें खास तौर पर बढ़ई और सिंगार बनाने वाले मजदूर आगे थे।

एक मई 1986 की हड़ताल शिकागो में सबसे जबरदस्त थी, उस समय यह शहर लड़ाकू किस्म के वामपंथी श्रमिक आंदोलन का केंद्र था। हड़ताल शुरू होने से काफी पहले ही “आठ घंटे की एसोसिएशन” बनाई जा चुकी थी ताकि हड़ताल की तैयारी ठीक से हो सके। शहर के संगठित श्रमिक आंदोलन की पुकार पर एक मई को भारी संख्या में मजदूरों ने अपने काम करने के औजार रख दिए और बाहर सड़कों पर निकल आये। 4 मई 1886 को, हेमार्केट चौराहे पर एक सभा का आयोजन हुआ। यह सभाः मई 1886 को मकर्मिक रीपर वर्कर्स के हड़ताली मजदूरों की एक मीटिंग पर हुए पुलिस के बर्बर हमले का विरोध करने के लिए बुलाई गई थी। उस हमले में छः मजदूर मारे गए थे और बहुत सारे घायल हुए थे। 4 मई की मीटिंग शांतिपूर्ण थी और समाप्त होने को ही थी कि पुलिस ने वहाँ इकट्ठा मजदूरों पर फिर से हमला कर दिया। इसी बीच किसी ने भीड़ में एक बम फेंक दिया जिससे एक सार्जेंट मारा गया। एक लड़ाई शुरू हो गयी। जिसमें पुलिस और मजदूर दोनों ही मारे गए। हेमार्केट चौराहे पर हुई इस खूनी घटना के बाद शिकागो के मालिकों ने मजदूर नेताओं - आगस्ट स्पाइस, अडोल्फ फिशर, जार्ज एंजेल और एल्बर्ट पार्सन्स को फांसी की सजी दी।

मजदूर संगठनों के पहले अंतर्राष्ट्रीय मंच ने, जिसने आठ घंटे के कार्यदिवस का प्रस्ताव पास किया था, 1872 के बाद अंतर्राष्ट्रीय मंच के रूप में काम करना बंद कर दिया था। ऐसा

इसका हेडक्वार्टर लन्दन से न्यूयोर्क जाने के बाद हुआ था। पुनर्जाहित अंतर्राष्ट्रीय मंच के (जिसे दूसरा इंटरनेशनल भी कहा गया) पेरिस में हुए सन 1889 के पहले सम्मलेन ने यह घोषणा की कि प्रति वर्ष पहली मई को दुनिया भर के मजदूर, अपनी ट्रेड यूनियनों और राजनीतिक पार्टियों के साथ मिलकर अपनी सबसे महत्वपूर्ण राजनैतिक मांग “आठ घंटे के दिन” के लिए संघर्ष करेंगे।

तबसे हर साल एक मई को दुनिया भर में अंतर्राष्ट्रीय मजदूर दिवस मनाया जाता है और मजदूरों के अधिकारों के लिए संघर्ष को नई ऊर्जा मिलती है। जिन मजदूरों के श्रम से ये सारी सम्भता बनी है वही मजदूर दाने दाने को मोहताज है, उसके परिवार के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, घर, जमीन, रोजगार की गारंटी, समय पर भुगतान, कानूनी तौर पर घोषित न्यूनतम मजदूरी आज भी सपने जैसे हैं, मजदूरों का संघर्ष आज पहले से भी अधिक ताकतवर होने की जरूरत है। आज भी सारे मजदूरों के लिए काम के घंटे तय नहीं हो पाए हैं।

अलग-अलग बिखरे मजदूर जब एक होंगे तभी उनकी ताकत बनेगी और उनके बात सुनी जायेगी। भारत में सारे मजदूरों का सिर्फ दस प्रतिशत हिस्सा ही किसी संगठन का सदस्य है, ज्यादातर मजदूर आज भी असंगठित हैं, विभिन्न मजदूर संगठनों को भी आपस में तालमेल बढ़ाना चाहिए, उनकी लड़ाई सिर्फ अपनी मजदूरी की ही नहीं है, उनका संघर्ष एक नए समाज की स्थापना का है जहां किसी किस्म का कोई शोषण नहीं होगा, उत्पादन के साधनों पर श्रमिकों का स्वामित्व होगा, हर इंसान बराबर समझा जाएगा, हर मनुष्य शारीरिक और मानसिक, दोनों किस्म के, श्रम में लगा होगा, जहां कोई छुआ छूत, ऊच्च-नीच नहीं होगा, सबका सम्मान होगा, न समाज में मैल होगा, न किसी के मन में, सबकी आत्मा निर्मल होगी, प्रकृति और मनुष्य का रिश्ता संतुलित होगा, दूसरों के अवगुणों से ज्यादा उनके गुण देखे जायेंगे।

मारुती सुजुकी मजदूर आंदोलनः 'विकास' की विद्वपताओं के खिलाफ

■ अंजनी कुमार

मारुती सुजुकी इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, मानेसर में जून 2011 से अक्टूबर 2011 के बीच कुल साठ दिन काम ठप्प रहा। बाइस दिन मजदूरों ने फैक्ट्री को अपने कब्जे में रखा। और टूल डाउन कर उत्पादन को पूरी तरह रोक दिया। मजदूरों ने फैक्ट्री के गेट पर 48 दिन चौबीसों घंटे विरोध प्रदर्शन जारी रखा। इस बीच हरियाणा सरकार ने दो बार मजदूर आंदोलन को कानूनन नाजायज घोषित करने का मामला कोर्ट में दर्ज किया। हजारों पुलिस के जवानों को तैनात किया। प्रबंधन ने बाउंसरों(पहलवान गुंडों) का इस्तेमाल किया। मारुती सुजुकी मोटर साइक्ल प्राइवेट लिमिटेड के मजदूरों पर ठेकेदारों और गुंडों ने शराब की बोतलें और पिस्टल चलाकर हमला किया। उल्टा इस मामले में फैक्ट्री में तोड़फोड़ का झूठा केस 355 मजदूरों पर लगाया गया। प्रबंधन इतने पर ही नहीं रुका। उसने मानेसर के गांव के सरपंचों को पैसा खिलाकर आंदोलन के खिलाफ महापंचायत कराया। इसमें 51 गांव के सरपंच शामिल हुए। सरकारी और निजी सुरक्षा दस्तों से फैक्ट्री की किलेबंदी कर दी गई।

पर मजदूर आंदोलन लगातार बढ़ता गया। जून से अक्टूबर के बीच कुल तीन बार हुए मजदूर आंदोलन के समर्थन में मानेसर, गुडगांव के मजदूरों ने अपने यहां भी हड़ताल घोषित कर अपनी एकबद्धता जताई। अक्टूबर में शुरु हुआ मजदूरों का टूल डाउन आंदोलन मारुती सुजुकी की अन्य पांच फैकिट्रियों में फैल गया। इसके असर में 15 अन्य फैकिट्रियों में एक दिन का टूल डाउन कर हड़तालरत मजदूरों की मांग पूरी न होने पर इसी तरह की कार्रवाई करने का संदेश मजदूरों ने दिया। इस आंदोलन का असर यह था कि मारुती के अन्य प्लाटों में ही नहीं बल्कि सैकड़ों सहयोगी फैकिट्रियों में काम ठप्प हो गया। मारुती मजदूरों के तीसरे दौर के आंदोलन

के बढ़ते चरण पर कॉरपोरेट सेक्टर और उसके अखबार इस कदर खौफजदा थे कि वे हड़ताल के दिनों की गिनती कर रहे थे और हर रोज इसकी खबर छाप रहे थे : हड़ताल का पांचवां दिन, छठा दिन, सातवां दिन, आठवां दिन। इस गिनती को वॉल स्ट्रीट जर्नल, इकॉनोमिक वॉच, द इकॉनोमिस्ट भी पढ़ रहे थे। कॉरपोरेट मीडिया और घराने इस आंदोलन को तोड़ने के लिए सारे दांव पेंच अपना रहे थे। खुद मारुती सुजुकी प्रबंधन ने हरियाणा सरकार से मजदूरों पर बल प्रयोग करने का खुला आग्रह किया। आंदोलन जिस कदर फैल चुका था उसमें बल प्रयोग आग में धी का काम करता। कॉरपोरेट घरानों के बीच इसे लेकर दरारें दिखने लगी थीं। वॉल स्ट्रीट जर्नल को सरकार के रवैये में खामी दिख रही थी तो द इकॉनोमिक टाइम्स को प्रबंधकों के अडियलपन और अमानवीय व्यवहार में गड़बड़ी दिख रहा था। सबका एक सुर था : मंदी का समय है, मजदूरों से प्यार से पेश आओ। जाहिर सी बात है कि आरोप मारुती सुजुकी के प्रबंधकों की ओर था। यह ऑटोमोबाइल क्षेत्र की गताकाट प्रतियोगिता में मजदूर आंदोलन के प्रति वह रुख था जिसका अंत मजदूरों का ही गला काट देने में होता है।

दमन के खिलाफ बगावत

हरियाणा सरकार, मारुती सुजुकी प्रबंधन और मजदूरों के बीच 20 अक्टूबर 2011 को एक बार फिर समझौता हो गया। समझौते के तहत हड़ताल करने वाले सभी मजदूरों को वापस काम पर रखने, चौसठ बर्खास्त मजदूरों को वापस काम पर लेने, जिन पंद्रह मजदूरों पर प्रबंधन की ओर से 'गंभीर आरोप' थे उन्हें कानूनी प्रावधानों के तहत वापस लिये जाने की बातें थीं। यह समझौता पिछले समझौतों की तरह ही कमजोर और प्रबंधन

को मनमानी करने की छूट देने वाला था। जिन मजदूरों पर आरोप को बनाए रखा गया है और जिन पर कार्रवाई करने के बाद ही काम पर वापस रखने की बात है। वे मजदूर नेता हैं। इस समझौते में मजदूरों के यूनियन की मान्यता, काम करने वाले मजदूरों को नियमित करने और काम के हालात को ठीक करने की मांग को पूरा नहीं किया गया। दूसरी ओर प्रबंधन ने अपनी शर्तों और गुड कंडक्ट बांड को लागू करने के अधिकार को बनाए रखा है। ऐसे में यह समझौता अगले आंदोलन की पृष्ठभूमि जैसा ही है।

घरेलू कार बाजार के 45 फीसद हिस्से पर कब्जा करने वाली इस कंपनी में मजदूर यूनियन बनाना एक चुनौती की तरह है। इसके पहले गुडगांव के प्लाट में 1999 से 2001 के बीच चत्ते आंदोलन के पीछे मुख्य मांग यूनियन बनाने की रही थी। इस मांग को प्रबंधन ने तभी माना जब उस यूनियन को अपने नियंत्रण में चलाना तय हो गया। उस यूनियन के अस्तित्व में आने के बाद उसका दस साल तक चुनाव ही नहीं हुआ। मजदूरों की सुगबुगाहट को भांपकर 2011 के शुरु में इसका चुनाव कराया गया। मारुती सुजुकी मानेसर प्लाट संख्या 2 और 3 का अस्तित्व 2006 के अंत में आया। लगभग पांच साल तक काम करने और फैक्ट्री में उत्पादन के लिए बढ़ते दबाव और प्रबंधन के खराब व्यवहार से मजदूरों के बीच स्वाभाविक एकता को बल मिला। मजदूरों को नौकरी से बर्खास्त करने के विरोध में मजदूरों की एकता मारुती सुजुकी इंप्लाईज यूनियन की मांग के रूप में सामने आई। प्रबंधन ने एकजुट हो रहे मजदूरों को तोड़ने के लिए तोड़फोड़, जोर जवर्दस्ती का सहारा लिया और मजदूरों को बड़े पैमाने पर निकाल बाहर करने के लिए गुंडों के सहारे सादे कागज पर दस्तखत कराना शुरू किया। ग्यारह मजदूरों

को नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया। भीषण गर्मी और उमस के बावजूद 4 जून 2011 को मजदूरों ने फैक्ट्री का टूल डाउन कर परिसर से बाहर जाने से इंकार कर दिया। इस बीच प्रबंधन ने टूल डाउन किये मजदूरों को कैंटीन सुविधा के साथ साथ पानी का सप्लाई भी रोक दिया। सारी तकलीफ झेलते हुए मजदूर 16 जून 2011 तक फैक्ट्री का टूल डाउन कर परिसर में ही डटे रहे।

यह मारुती सुजुकी मजदूरों के हड़ताल का पहला दौर था। इसमें हरियाणा सरकार के दखल से मजदूरों पर जो समझौता थोपा गया वह कॉरपोरेट खुली लूट की मिसाल है : तेरह दिन की हड़ताल के एवज में मजदूरों को 26 दिन कंपनी के लिए बिना वेतन काम करने की शर्त रखी गई थी। काम नहीं तो वेतन नहीं के आधार पर 13 दिन का वेतन मजदूरों को नहीं दिया गया। यूनियन की मान्यता से इंकार कर दिया गया। बर्खास्त मजदूरों की वापसी जांच परख के बाद ही तेने की बात कही गई। इस हड़ताल की मजदूरों के लिए सबसे बड़ी उपलब्धि मजदूरों के बीच मारुती सुजुकी इंप्लाइज यूनियन और उसके नेतृत्व की स्वीकृति थी। इसने मजदूरों के बीच के सोपानीकरण को तोड़ा और उनमें एक मजबूत एकता कायम की। यह सरकारी या प्रबंधन की मान्यता से इतर उभरा संगठन था। यह लगातार मजबूत होता गया है।

तेरह दिन की हड़ताल खत्म होने के बाद फैक्ट्री के भीतर काम का माहौल एकदम अलग तरह का था। प्रशासन के पास हड़ताल के दौरान सक्रिय मजदूरों के विडियो रिकार्ड मौजूद थे। प्रबंधन ने 17 जून 2011 से काम शुरू होने के साथ ही मजदूरों पर किसी न किसी बहाने दबाव डालना शुरू कर दिया। एक प्रमुख हथियार ‘अनुशासन’ का पालन था। 28 अगस्त 2011 तक इसके तहत 54 मजदूरों को नौकरी से बर्खास्त या निलंबित कर दिया गया। अंततः चंद मजदूरों को छोड़कर कार्यरत सभी मजदूरों को 28 अगस्त की रात से ही फैक्ट्री के बाहर कर दिया गया। 29 अगस्त को सुबह की पाती में काम करने वाले लगभग 1500 मजदूरों को गेट के अंदर आने नहीं दिया गया। लगभग

2500 मजदूरों को फैक्ट्री के नए फार्म ‘गुड कंडक्ट बांड’ पर दस्तखत कर नौकरी पर आने की शर्त रख दी गई।

यह पिछले समझौते का उल्लंघन था। दरअसल यह नए तरह का फैक्ट्री लॉकआउट था। ‘गुड कंडक्ट बांड’ की नियमावली प्रबंधन ने खुद बनाई थी। इसे बाद में श्रम विभाग ने भी मान्यता दे दी। (शीतकालीन सत्र में श्रम मंत्री मल्लिकार्जुन खड़गे ने संसद में बताया कि ‘गुड कंडक्ट बांड’ अवैथानिक व्यवस्था थी।) इस बांड की नियमावली ऐसी थी जिसमें किसी मजदूर की मंशा को समझकर प्रबंधन उसे नौकरी से बाहर कर सकता था। यह पोटा या यूएपीए कानून की तरह है। मजदूरों ने कोई अपराध किया हो या नहीं, उन पर अपराध आसानी से ठोंका जा सकता है। मजदूर इस खतरनाक बांड के खिलाफ एकजुट बने रहे।

बत्तीस दिन के लॉकआउट के बाद कंपनी ने गेट खोला पर मजदूरों पर इस बांड की शर्त लाद दी। पंद्रह मजदूरों की बर्खास्तगी को निलंबन में बदल कर कुल 44 मजदूरों को कानूनी जांच परख के बाद वापस नौकरी पर रखा जाना था। अठारह प्रशिक्षुओं को वापस नौकरी पर रख लिया गया। पिछले समझौते के बाद भी सरकार और श्रम विभाग के वरदहस्त से प्रबंधन समझौते के इतर मनमाने प्रावधानों को लागू करने में जुट गया। इस बार भी वह पहले से कहीं अद्वितीय आक्रामक रुख से काम करने में लग गया। इसके चलते वहाँ मजदूरों के लिए काम के हालात अधिक कठिन हो गए। इस समझौते के बाद काम के दूसरे दिन 4 अक्टूबर को मजदूरों को लाने के लिए बस नहीं भेजी गई। मजदूरों ने बताया कि 95 फीसद मजदूरों के काम का स्टेशन बदल दिया गया। यानी वह जिस काम को पहले से करते आ रहे थे और जिसमें उनकी खूबी बनी हुई है उससे हटाकर दूसरे तरह के काम दिए गये। इससे जाहिर है मजदूरों को काम करने में दिक्कतें आईं। उनकी उत्पादकता भी प्रभावित हुई। प्रबंधन ने इसका इस्तेमाल यह आरोप लगाने में किया कि मजदूर अपना काम नहीं कर रहे हैं और काम में जानबूझकर

बाधा डाल रहे हैं। मजदूरों ने बताया कि प्रबंधन ने गुड कंडक्ट फार्म के अतिरिक्त एक अन्य फार्म पर भी हस्ताक्षर कराया। इसमें 32 दिन के लॉक आउट की अवधि के बदले में कंपनी के लिए 64 दिन मुफ्त काम करने की बाध्यता थी। बर्खास्त 44 मजदूरों को वापस लेने के बजाय प्रबंधन ने 6 अक्टूबर को 1200 मजदूरों को ही बाहर कर दिया। यह आंदोलन का तीसरा चरण था जो 20 अक्टूबर 2011 को पिछले समझौते की शर्तों को पुनर्मान्य करने के साथ ही खत्म हुआ।

सरकार और कॉरपोरेट का एक सुर

इस समझौते की प्रेस विज्ञप्ति में कहा गया कि इस हड़ताल से सरकार, फैक्ट्री मालिक और मजदूरों के साथ साथ सहयोगी कंपनियों का भी बाटा हुआ है। यह सरल समीकरण और उसका निष्कर्ष इस तरह पेश किया गया मानो फैक्ट्री के ये तीन बराबर के हिस्सेदार हों। सच्चाई यह है कि मजदूर को मालिक और सरकार फैक्ट्री का वैसा ही हिस्सा मानते हैं जैसा उसके कल पुर्जे को वैसे भी पूँजीवादी औद्योगिक समाज में पूँजीपति न सिर्फ फैक्ट्री बल्कि मजदूर के खरीदे गए श्रम का भी मालिक होता है। सरकार इस श्रम और मानवीय चेतना के नियमन के लिए बल प्रयोग की कानूनी संस्था ही होती है।

पिछले दस साल में दिल्ली-मुंबई औद्योगिक कोरिडोर के हिस्से के तौर पर मानेसर, दारुहेड़ा और विलासपुर औद्योगिक क्षेत्र जितनी तेजी से फैला है उसके पीछे एक बड़ा कारण हरियाणा सरकार की दमनकारी नीतियां ही रही हैं। मजदूर, दलित व स्त्री के प्रति हरियाणा सरकार का रवैया कोई छुपी हुई बात नहीं है। गुडगांव में मारुती मजदूर आंदोलन, हीरो होंडा, रिको आदि में मजदूरों के प्रति शासन प्रशासन का हिंसक रवैया मजदूरों के लिए सबक जैसा रहा है। पिछले दस सालों में जितनी तेजी से फैक्ट्रियों की संख्या बढ़ी है उतनी ही गति से मजदूरों की संख्या में भी इजाफा हुआ है। आज वहाँ हालात वैसे ही नहीं हैं जैसे पांच साल पहले तक थे। इस बात की जानकारी कॉरपोरेट जगत को

भी है और हरियाणा सरकार को भी है। इस बात को द इकॉनोमिस्ट ट्रबल्ड गुडगांव (समस्याग्रस्त गुडगांव) कह कर बयान करता है तो हरियाणा सरकार 'निवेश के लिए विगड़ रहे हालात को हर हाल में ठीक करने के लिए जरूरी और कड़े कदम उठाने' का हिंस्क आश्वासन पेश करती रहती है।

जून महीने में मजदूरों ने जब टूल डाउन कर फैक्ट्री को अपने कब्जे में ले लिया था तब निचली अदालत ने इसे 'गैर कानूनी' घोषित कर दिया था। श्रम विभाग ने भी मजदूरों को कारण बताओ नोटिस जारी किया। लेकिन अगस्त-सितंबर में कंपनी द्वारा 33 दिन के लॉकआउट, मजदूरों की वर्खास्टगी और गुड कंडक्ट बांड को अदालत और श्रम मंत्रालय, हरियाणा में मजदूरों ने चुनौती दी तो इन्होंने कंपनी का साथ दिया। और इसे मालिक का अधिकार बताया। आंदोलन के तीसरे चरण में जब कंपनी प्रबंधन ने 1200 मजदूरों को समझौते का उल्लंघन कर निकाल बाहर किया तब भी कंपनी को सरकार की ओर से कोई नोटिस जारी नहीं हुआ।

श्रम मंत्रालय पूरे मुद्दे पर कोई भी आदेश देने को तैयार नहीं हुआ और मजदूरों से समझौता कर लेने का आग्रह किया। तीसरे चरण की हड्डताल में मानेसर ही नहीं पूरे गुडगांव की फैक्ट्रियां प्रभावित हुईं। तब हाईकोर्ट ने पिछले समझौते को लागू करने के बजाय हड्डताली मजदूरों को फैक्ट्री से बाहर निकलने का आदेश दिया ताकि उत्पादन अन्य मजदूरों से शुरू किया जा सके। साथ ही श्रम मंत्रालय ने मजदूरों को चार दिनों के भीतर जवाब देने के लिए 11 अक्टूबर 2011 को नोटिस जारी किया। इस नोटिस में मजदूरों को 30 सितंबर 2011 को मारुती सुजुकी प्रबंधन, हरियाणा सरकार और मारुती सुजुकी इंलाईज यूनियन के प्रतिनिधियों के बीच हुए समझौते का उल्लंघन करने का दोषी बताया गया। ठीक यही बात मारुती सुजुकी प्रबंधन ने भी दोहराई और मजदूरों को 'विश्वासघाती' कहा। मारुती सुजुकी के प्रवक्ता ने 10 अक्टूबर 2011 को बयान दिया: 'कंपनी इतने सारे लागों को बाहर नहीं फेंक सकती। यह काम पुलिस और प्रशासन की ओर से होना है।'

इस बयान और हाईकोर्ट के आदेश को पूरा करने के लिए चार हजार पुलिस बल लगाया गया। अर्द्धसैनिक बल बुत्ता लिए गये। मजदूर नेताओं के घरों पर छापा भी डाला गया। गुडगांव, मानेसर, धारहेड़ा के मजदूरों में उबाल आ गया। अखबारों ने लगातार लिखा कि ये मजदूर नेता किसी गुप्त, रैडिकल लोगों से संचालित हो रहे हैं, कि इन पर घर परिवार का बोझ नहीं है इसीलिए ये इतने अराजक और गैरजिम्मेदार हो रहे हैं। लेकिन हकीकत यह है कि मारुती सुजुकी, मानेसर के मजदूरों की औसत उम्र 25 साल से कम है। अधिकांश अविवाहित हैं। अखबारों ने लगातार इस बात को प्रमुखता से लापा कि ऐसे हड्डतालों से निवेश नहीं होगा। विकास नहीं होगा। रोजगार का संकट बन जाएगा। वे लगातार मजदूरों को अडियल बताकर उन्हें माहौल खराब करने वाला घोषित कर रहे थे। इस हड्डताल से मारुती सुजुकी को 1700 करोड़ के घाटे की खबर को प्रमुखता दे रहे थे। उन्होंने कभी यह नहीं बताया कि 2007 में शुरू हुए इस प्लांट के मजदूरों ने तयशुदा एक लाख कार सालाना बनाने के लक्ष्य को पार कर अगले साल ही उत्पादन तीन लाख तक पहुंचा दिया। प्रबंधकों के दावे के अनुसार अगले साल यह उत्पादन साढ़े पांच लाख हो गया। मजदूरों के अनुसार यह संख्या साढ़े छह लाख है। 2010 -2011 में ग्यारह लाख सालाना कार उत्पादन का लक्ष्य था और 2011 -2012 के लिए यह लक्ष्य चौदह लाख रखा गया था। यह काम अराजकता के साथ पूरा नहीं हो सकता।

कॉर्पोरेट और सरकार का यह रुख नया नहीं है। लेकिन सच्चाई यह है कि मजदूर आंदोलन गुडगांव में जिस तेवर के साथ उभरकर आया है, उसका रूप और आयाम 1990 के बाद के हालात में ढला हुआ है। यह शहर के आम शोर शराबे से दूर थीरे थीरे सुलगते हुए सामने आया है। इसे टाल सकना मुश्किल हो गया है। मार्क्स के शब्दों में कहें तो यह वस्तुगत ताकत बन चुका है। इसकी आत्मगत क्षमता असीम संभावनाओं से भरी हुई है।

काम के हालात

सितंबर 2011 में मारुती सुजुकी कंपनी ने देश के भीतर एक हजारवां शो रूम खोला और इसी महीने में एक लाख से ऊपर कार बेचकर रिकार्ड बनाया। इसी महीने में कंपनी ने गुजरात में निर्यात केंद्रित उत्पादन इकाई खोलने की घोषणा की। इसके लिए 130 अरब अमरीकी डालर निवेश का ऐलान किया। इस चमकदार चेहरे के पीछे मजदूरों के श्रम और हालात एक गैर वाजिब विषय की तरह हैं जिन्हें तबज्जो देना 'विकास' के खिलाफ खड़ा होने जैसा है।

मारुती सुजुकी कंपनी अपने यहां चार तरह के मजदूर रखती है : नियमित, प्रशिक्ष, अप्रैंटिस, थेका मजदूर। वह कुल 52 थेकेदारों से मजदूर उगाहती है। इन थेका मजदूरों को वेतन सीधा कंपनी नहीं देती। यह काम थेकेदार करता है जो मजदूरों के काम के बदले एकमुश्त और महीनेवार कंपनी से पैसा बसूलता रहता है। प्रबंधन द्वारा दिए गए आंकड़ों के अनुसार प्लांट संख्या 2 में कुल 2500 मजदूर हैं। इसमें से 1200 थेका मजदूर हैं। और 750 से ऊपर प्रशिक्षि हैं। शेष नियमित हैं। चंद मजदूरों की पदोन्नति या अवनति को छोड़कर इस प्लांट की स्थापना से लेकर हड्डताल शुरू होने तक उनकी अवस्थिति का यह अनुपात भारत की रुढ़ जाति व्यवस्था की तरह ही स्थिर था।

मजदूरों के इस बंटवारे को प्रबंधन सुविधा और स्टेटस के द्वारा भी रुढ़ बनाए रहा है। गुडगांव के मजदूरों में यह सोपानीकरण उनके बीच बंटवारे को सामंती संरचना की तरह ही मजबूत करता है। कॉर्पोरेट जगत इसका जान बूझकर इस्तेमाल करता है ताकि मजदूरों की स्वाभाविक एकता को जिस हद तक हो, रोके रखा जा सके। कॉर्पोरेट जगत जागत सबसे अधिक लूट थेका मजदूर और प्रशिक्षु के माध्यम से ही करता है। यह उसका रिजर्व और सबसे सस्ता श्रम है। कॉर्पोरेट जगत को सबसे अधिक दिक्कत नियमित मजदूर से ही है। कंपनी प्रबंधक आर सी भार्गव ने दावा किया कि नियमित मजदूर को 3 लाख, अप्रैंटिस, प्रशिक्षु और कैजुअल को 1.4 लाख रुपए सालाना दिया जाता है। सचाई यह

है कि उपरोक्त तनख्वाह उनकी इस कंपनी की उच्चतम सीमा है। वास्तविक तनख्वाह इससे बहुत बहुत कम है। मसलन, अप्रैंटिस को 4300 रुपए और कैजुअल को 7500 रुपए माहवार से ज्यादा दिया ही नहीं जाता। नियमित मजदूर 15000 से 20000 रुपए के बीच पाते हैं। प्रशिक्षु 12000 से 18000 के बीच हर माह पाते हैं। प्रबंधन ठेकेदारों की लूट और छुट्टी के नाम पर उसके खुद के द्वारा मजदूरों की की गई लूट का आंकड़ा पेश ही नहीं कर रहा है। द हिंदू में इसी प्रबंधन ने लेख लिखकर दावा किया कि कंपनी के मजदूरों के बच्चे डीपीएस स्कूलों में पढ़ते हैं और दो-तीन कमरों वाले मकान में रहते हैं। जबकि श्रम मंत्रालय ने ही बताया कि यहां के मजदूर कम उम्र के हैं। उनमें से 98 फीसद की अभी शादी नहीं हुई है। उनके रिहाइश किराए के एकल कमरों में हैं।

मारुती कंपनी प्रबंधन की ओर से जारी प्रेस विज्ञप्ति के मुताबिक पांच प्लांट में कुल 8500 मजदूर हैं। मजदूरों को कुल 9 घंटे काम के दौरान 7 मिनट का चाय ब्रेक मिलता है। इसी अवधि में उसे पेशाब करने से लेकर पानी और चाय पीना भी होता है। लगभग 500 लोगों के बैठने की क्षमता वाले कैटीन में खाना खाने के लिए 30 मिनट का ब्रेक मिलता है। पीयूडीआर की 2001 की एक रिपोर्ट के अनुसार एक मजदूर को दो मिनट में कुल 16 काम निपटाने होते हैं। इसमें तीस किलो के ब्लॉक के शॉट को उठाना, वापस मोड़ना और चार बोल्ट को कसना आदि शामिल है। आज दस साल बाद काम में और तेजी पैदा की गई है। पहले लगभग 1 मिनट 30 सेकेंड में एक गाड़ी तैयार होती थी। आज यह काम 42 सेकेंड में पूरा हो जाता है। प्रबंधन इस काम को 30 सेकेंड में पूरा करा लेने की तैयारी में है। ऐसे में बीमार पड़ने, धरेलू या निजी दुख का अर्थ एक जबर्दस्त दबाव से गुजरना होता है। एक दिन की छुट्टी पर मजदूर की तनख्वाह से 1200 से 1600 रुपए की कटौती कर दी जाती है। तीन दिन की छुट्टी पर कुल 5200 रुपए की कटौती

हो जाती है। छुट्टी बढ़ने पर मजदूर को काम से निकाल दिया जाता है। बीमार हो काम करने पर काम में आ गई थोड़ी भी ठिलाई पर गाली गतौज आम बात है। मजदूरों को महीने के 26 दिन काम करना अनिवार्य है। यहां न तो छुट्टी का प्रावधान है और न ही मेडिकल की सुविधा। हालांकि दोनों सुविधाएं कागज पर जरूर दर्ज हैं।

मारुती सुजुकी में काम कर रहे मजदूरों की औसत उम्र 23 साल है। नियमित मजदूर को आवास के लिए 1200 रुपए और उनके बच्चों की पढाई के लिए 200 रुपए दिया जाता है। काम के समय मजदूर भोजन फैक्ट्री कैटीन में ही करते हैं। इसमें पौष्टिकता ढूँढ़ना बेमानी काम है। किसी भी दिन खास खाना नहीं होता। कड़ी मैहनत से थके शरीर की ग्लूकोज की जरूरत होती है। भोजन में किसी भी तरह की मिटाई नहीं दी जाती। ऐसे हर भोजन के बदले मजदूरों के वेतन से 20 रुपए हर रोज काट लिया जाता है। कैजुअल और प्रशिक्षु को फैक्ट्री में काम करने के लिए जरूरी संसाधन और सुरक्षा के साधनों से वंचित रखा जाता है। परिवहन की सुविधा के लिए नियमित और अप्रैंटिस मजदूरों को है। सभी मजदूरों को 600 रुपए का परिवहन भत्ता दिया जाता है। नियमित मजदूरों को 1700 रुपए का पेट्रोल भत्ता मिलता है। कंपनी के बस से आने जाने पर यह भत्ता नहीं दिया जाता और उनके वेतन से 2300 रुपए काट लिया जाता है। थोड़ी भी देरी से काम पर आने का अर्थ है उस दिन मुफ्त में काम करना ताकि छुट्टी के नाम पर 1500 रुपए न कटे।

मानेसर औद्योगिक विकास परियोजना की संरचना मजदूरों की कठिनाई को और बढ़ा देती है। अरावली पहाड़ी के निचले हिस्से में बसा मानेसर दिल्ली-मुंबई उद्योग परियोजना में आता है। गर्मी में इस इलाके का तापमान 48 डिग्री सेल्सियस से ऊपर तक जाता है। जाड़े में बर्फली हवा के साथ यह 4 से 5 डिग्री सेल्सियस नीचे चला जाता है। इस उद्योग क्षेत्र में मजदूरों को रहने के लिए कोई सुविधा नहीं है। मानेसर क्षेत्र में अलियर और बांसगांव सहित कुल पांच गांव

हैं। जहां रिहाइश के नाम पर पथरों की पटिया बाले तंग कमरे हैं। इनका किराया 2000 से लेकर 5000 रुपए तक है। मजदूरों का एक बड़ा हिस्सा झांड़सा, विलासपुर, दारूहेड़ा और मानेसर शहर की ओर रहता है। नियमित मजदूर आमतौर पर गुडगांव में रहते हैं। इस उद्योग क्षेत्र में आने के लिए दिन भर में दो सरकारी बसें चलती हैं। सड़क किनारों पर बनाए गए हारित क्षेत्र में कनेर और अमलतास के पेड़ हैं जो गर्मी के दिनों में पूरी तरह नंगे होते हैं। पेड़ की अन्य प्रजातियां ऐसी ही हैं जिनसे गर्मी में राहत की उम्मीद नहीं की जा सकती। इनकी कटाई-छंटाई चलती रहती है जिससे ये छह फिट से ऊपर जा नहीं पाते। यह ढांचा मनोवैज्ञानिक दबाव बनाता है जिससे शरीर की उर्जा से क्षतित मजदूर बाहर के बजाय फैक्ट्री के भीतर ही रहना पसंद करे और इस अवधि का उपयोग काम के घंटे को बढ़ाने में कर लिया जाता है। फैक्ट्री मजदूर को सारी तकलीफ देने के बावजूद शामियाना जैसी हो जाती है और इसका फायदा न केवल उत्पादन में बल्कि मजदूरों की स्वाभाविक एकता को भी भंग करने में उठाया जाता है। फैक्ट्री गेट पर या ऐसे सुविधानुसार जगहों पर मजदूरों के जमघट से उभरने वाली एकता के खतरे को यह ढांचा थोड़े और समय के लिए रोक देता है। इस पूरे इलाके में मजदूरों के लिए किसी भी तरह का सरकारी या गैर सरकारी कैटीन या कम्युनिटी सेंटर नहीं है जहां मजदूर बैठ सकें और अपने हालात को साझा कर सकें। जो है वह रेहड़ पट्टी की शक्ति में है जो पुलिस को हफ्ता देकर या उनके सहयोग से ही चलते हैं। प्रवंड गर्मी और जाड़े में वे भी दुकान खोलने से बदराते हैं। इस औद्योगिक क्षेत्र में गांव के भीतर एक दड़बेनुमा प्रसूती गृह को छोड़कर कोई अस्पताल नहीं है। अलियर गांव के ठीक मुहाने पर शराब का ठेका जरूर है। इस हालात से मजदूर आंदोलन एक नये शक्ति में सामने आया। इस क्षेत्र में आमतौर पर फैक्ट्री के भीतर हड्डताल टूल डाउन के रूप में शुरू होती है। इसका इतिहास पिछले दस सालों के मजदूर आंदोलन में देख सकते हैं।

औद्योगिक विकास का विद्वप चेहरा

इंडस्ट्रीयल मॉडल टाउनशिप, मानेसर, हरियाणा से 35 किमी दूर है। बीच का इलाका फैक्ट्रियों से भरा हुआ है। गांव की जमीन की बड़े पैमाने पर खरीद बिक्री का रियल स्टेट कारोबार भी फैला हुआ है। ये उद्योग क्षेत्र गांव के साथ बसे हुए हैं। मानेसर में ऐसे गांवों की संख्या 55 से ज्यादा है। गांव के लोगों ने तेजी से बढ़ रहे औद्योगिकरण के खिलाफ एक मोर्चे का निर्माण भी किया। इस मोर्चे पर आज रियल स्टेट कारोबारियों का कब्जा हो चुका है। हरियाणा उद्योग विकास विभाग के अनुसार रिहाइशी जमीन की दर औद्योगिक वसावट की दर से 20 फीसद ऊपर रखी गई ताकि उद्योगों को बढ़ावा मिले। इस क्षेत्र में सरकारी इजाजत के बिना किसी भी तरह के बसावट की अनुमति नहीं है। यानी मजदूर बस्तियों के पनपने की कोई गुंजाइश नहीं है। जाहिर सी बात है कि इस निवास निर्माण की नीति में मजदूरों के रहने की कोई व्यवस्था नहीं है। सरकार का दावा है कि इस मॉडल में मजदूरों के निवास पर खास ध्यान दिया गया है। सच्चाई यह है कि 550 लोगों ने 50 समूहों में व्यक्तिगत रिहाइश जमीन की खरीददारी की। इस बात को समझना कठिन नहीं है कि औद्योगिक जमीन से भी 20 फीसद मंहगी जमीन को रिहाइश के लिए कौन खरीदेगा। उपरोक्त 50 समूहों के भीतर मारुती, मिशिवुशी, ट्रोटा से लेकर रिलायंस जैसी औद्योगिक कंपनियां और डीएलएफ जैसी रियल स्टेट कंपनियों की ही खुद दखल है। ये कंपनियां जाहिरा तौर पर मजदूरों के आवास नहीं बनाने जा रही हैं। इस क्षेत्र में सिकुड़ते गए गांव के लोगों के पास रिहाइश की जमीन बची है और दूसरी ओर विशाल क्षेत्र में औद्योगिक कंपनियों व कारोबारियों का कब्जा है। इन दो के बीच रोजाना काम करने के लिए इस क्षेत्र के 'बाहरी' हिस्से से आने वाला 12 लाख मजदूर 'बाहरी' है। यह विभाजन गांव के दबंगों व कंपनी के मालिकों की मिली भगत से हड्डताल के दौरान खूब दिखता है। मारुती सुजुकी मजदूरों के इस आंदोलन के दौरान भी यह विभाजन

दिखाने की खूब चालबाजी की गई।

इस क्षेत्र को इंटीग्रेटेड टाउनशिप घोषित होने के बाद भी इस औद्योगिक क्षेत्र में राजनीतिक सामाजिक आर्थिक सांस्कृतिक सभी स्तरों पर गांव का अस्तित्व वैसे ही बना हुआ है जैसे आम तौर पर ग्रामीण समाजों में होता है। इन गांवों का चुनाव ग्राम सभा के तहत होता है। इनकी पंचायतें तो हैं ही बल्कि हरियाणा की परंपरा के अनुसार इनकी महापंचायतें भी होती हैं। ये गांव दोहरे तनाव में होते हुए भी फैसले रुद्धिगत तरीकों से ही लेते हैं। मारुती सुजुकी का पॉवर ट्रेन और प्लांट संख्या 2 और 3 का पूरा दायरा तीन किलोमीटर लम्बा है। यह बांसगांव, अलियर या बसियार और धनौड़ गांव की जमीन में फैला हुआ है। अलियर गांव की आबादी लगभग चार हजार है। इस गांव की जमीन फी एकड़ 3.50 लाख में खरीदी गई। यहां की दलित और पिछड़ी जातियों के लोग जमीन न होने या कम होने के चलते बुरी तरह प्रभावित हुए। इस समूह की आधे से अधिक की आबादी गांव छोड़कर गुड़गांव शहर में जीविका चलाने के लिए बसने को मजबूर हुई। ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियों ने अपनी बची रह गई जमीन पर कमरे बनवाकर मजदूरों को किराए पर दे रखा है। आज जमीन और पैसे के अनुसार ही उनका रुतबा है। इन्हीं में से गांव के भीतर एक बाजार विकसित कर दिया गया है जहां से मजदूर व गांव के लोग खरीददारी करते हैं। मानेसर उद्योग क्षेत्र में गैरसरकारी तौर पर ही सही पर प्रशासन और फैक्ट्रियों के बीच यह आपसी समझदारी और अधोषित नीति बनी हुई है कि इस क्षेत्र के 60 किमी के दायरे के किसी गांव के लोगों को नौकरी पर नहीं रखना है। इसका परिणाम यह है कि गांव के चंद लोगों को छोड़कर सभी लोग पूरी तरह से मजदूरों से आने वाले किराया, उनकी रोजाना की खरीद फरोख और मजदूरों को गुड़गांव या हाइवे से काम के स्थल तक लाने के लिए टैंपो चालन से होने वाली कमाई पर ही निर्भर हैं। गांव की युवा पीढ़ी का अधिकांश हिस्सा पेटी किस्म के कामों में लगा हुआ है।

इस उद्योग क्षेत्र में संगठन के तौर पर तीन राजनीतिक केंद्र उभरकर आते हैं : उद्योग समूह, गांव और मजदूर यूनियन। चौथे केंद्र के बतौर सरकार खुद को रेफरी के रूप में पेश करती है। उसका दावा है कि वह गतिविधियों की देवरेख और संचालन संभाल रही है। इन तीनों ही केंद्रों का ढांचा उनकी सामाजिक राजनीतिक जरूरतों से अलग अलग है। उद्योग समूह गांव के लोगों को अपने पक्ष में रखने के लिए गांव का विकास करने का वादा करते हैं। इसके लिए उन्होंने गांव को 'गोद' लेने की घोषणा भी कर रखी है। मसलन, अलियर गांव को मारुती कंपनी ने गोद ले रखा है। इसका फायदा गांव के प्रधानों को और वहां की बची खुची जमीन खरीद रहे चौधरियों को जरूर होता है। इस कंपनी ने विकास के नाम पर अभी हाल में ही लैपपोस्ट लगवा दिया है। इस गांव में पानी का निकास नहीं है। पानी की सड़ांध चारों तरफ दिखती है। गांव से दस मीटर की दूरी से कंपनियों के गेंदे पानी को ले जाने वाली चौड़ी नाली गुजरी है पर गांव के लोग इस व्यवस्था का फायदा नहीं उठा सकते। इसी गांव के हिस्से पर बसा मारुती कंपनी का विशाल हरित क्षेत्र है। पर गांव के भीतर या आसपास अस्पताल नहीं है। खेल के मैदान या इसी तरह की सुविधा के बारे में सोचना ही बेमानी है। चार गांवों के बीच आठवीं तक चलने वाला एक स्कूल जरूर है। और अलियर गांव के मुहाने पर अग्रेजी शराब का ठेका है। गांव की पूरी अर्थव्यवस्था मजदूरों पर टिकी हुई है लेकिन गांव की यह आबादी 'स्वामी' होने की मानसिकता में ही जीती है। फैक्ट्री मालिक इस मानसिकता का फायदा उठाते हैं। मारुती मजदूरों के आंदोलन के दौरान प्रबंधकों ने मजदूरों के खिलाफ कई बार गांव के सरपंचों की बैठकें की और महापंचायतें तक कराई और इन गांव के नौजवानों को मजदूरों के खिलाफ भड़काया। इस कंपनी के अधिकांश मजदूर हरियाणा से आते हैं। फिर भी यह बात तेजी से फैली कि ये 'बाहरी' लोग हैं। मजदूर आमतौर पर हरियाणा से थे इसलिए वे इस प्रचार के खिलाफ मुस्तैदी

से लड़ सके और इस विभाजन के खिलाफ सफल अभियान चलाया। लेकिन बाहरी होने के नाम पर इन इलाकों में मजदूरों पर गांव के लोगों से हमला कराया जा चुका है जिसमें मजदूरों को बुरी तरह पीटा गया और हड्डताल को भंग तक कराया गया।

सरकार इस तरह के आने वाले सारे मसलों को हल करने के लिए इस औद्योगिक ढांचे को बनाए हुए है। यह बात किसी से लुप्ती नहीं है कि इन सामंती ढांचों का इस्तेमाल ये उद्योग समूह किस तरह करते हैं। हरियाणा की पहलवानी करने के शौक और परंपरा का इस्तेमाल उद्योग समूहों ने मजदूरों के खिलाफ धड़त्ते से किया है। पहलवानों को वे बाउंसरों की तरह फैक्ट्रियों में तैनात करते हैं। आज गांव के बेरोजगार नौजवानों के सामने यह भी एक धंधे की तरह उभर कर आया है। वे अपने ही भाई बंदों पर कातिलाना हमला करते हैं। ये नौजवान पहलवानी को पहले खेल और कैरियर के तौर पर देखते हैं। बाद में असफल होने पर बाउंसर बन जाते हैं। आस पास के पचास गांवों के नौजवानों को नौकरी देने के बजाय औद्योगिक समूह उनका इस्तेमाल बड़े पैमाने पर मजदूरों पर हमला करवाने में करते हैं। यह समूह इन उद्योगों के लिए निजी सुरक्षा कंपनियों के तैनात जवानों के अतिरिक्त सुरक्षा कतार बन जाता है। यह सब नाजायज तरीके से चलाया जाता है। पकड़े जाने पर कंपनी उनकी कोई भी जिम्मेवारी नहीं लेती है।

मजदूरों को अपने हक के लिए गांव की संरचना, उद्योग समूह, सरकार की पुलिस, श्रम विभाग, अदालत आदि के साथ ही हरियाणा की सामंती सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना के साथ भिड़ना पड़ता है। यह विकास का ऐसा विद्युप चेहरा है जिसका दोहराव भारत के हर हिस्से में है। यदि कहीं पर विशाल फैक्ट्री लगाई गई तो उसे स्थानीय आबादी से काट कर एक ऐसा टापू बनाया जाता है जिसका नतीजा अंत में वहां एक सामाजिक राजनीतिक सांस्कृतिक संकट और टकराहट के रूप में सामने आता है। जमशेदपुर से लेकर सूरत और मुंबई तक एक ही तरह की कहानी का दोहराव है।

ट्रेड यूनियन आंदोलन की चुनौतियां

1990 के बाद एक नए तरह की औद्योगिक संरचना का विकास हुआ है। पुरानी औद्योगिक नियमावलियां घोषित अघोषित दोनों ही स्तर पर बदल दी गई हैं। मजदूरों को कैजुअल, प्रशिक्षु और नियमित की श्रेणी में बांट दिया गया है। काम का ज्यादा जोर कैजुअल और प्रशिक्षुओं को ही दिया जाता है ताकि यूनियन बनाने का खतरा कम रहे और उत्पादन ज्यादा से ज्यादा लिया जा सके। काम के हालात मुश्किल रखते हुए पूरा जोर काम के घंटे बढ़ाने पर होता है ताकि मजदूरों से ज्यादा से ज्यादा उगाहा जा सके। उन्हें मनोवैज्ञानिक तौर पर तोड़कर उनकी एकता के खतरे से निपटा जा सके। ऐसे काम में आने वाले अधिकांश मजदूर तकनीकी पढ़ाई से आ रहे हैं। उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि बर्बाद होता निम्न-मध्य आय वाला समूह है। यह मजदूर नई औद्योगिक उत्पादन की सामूहिक कार्यप्रणाली से परिवर्तित है। काम के हालात और आमदनी के बीच के फर्क के तनाव को हल करने के लिए वह आपसी श्रेणी विभाजनों के बावजूद तेजी से एकजुट हो जाता है। ‘काम रोको’ जैसे हड्डताल के रैडिकल रूप को वह सीधा अखियार करने की हालत में होता है। इसके लिए वह अपने संगी मजदूरों के साथ संघीय और एकता रखता है। फैसले लेने और उसे लागू करने में कोई छुपा-छुपी का खेल नहीं होता है। मारुती सुजुकी मजदूर आंदोलन में तमाम फैसले खुले और पारदर्शी तरीके से ही लिए जाते रहे।

कानूनी लड़ाई लड़ने वाले ट्रेड यूनियनों का मुख्य उद्देश्य अब आर्थिक मांग भी नहीं रह गया है। वे न तो इस तरह के रूपों को पचा पाने में सक्षम हैं और न ही मजदूर आंदोलन को आगे ले जाने की क्षमता रखते हैं। एटक, सीटू एचएमएस जैसी सरकारपरस्त हो चुकी यूनियनों ने मारुती सुजुकी मजदूर आंदोलन को लगातार बाधित किया। आंदोलन की एकता को तोड़ने का भी काम किया। मानेसर उद्योग क्षेत्र के मजदूरों ने मारुती मजदूरों के पक्ष में दो बार टूल डाउन किया।

जब तीसरे चरण में सरकार बल प्रयोग पर उतरी तब मजदूरों ने पूरे गुडगांव में बंदी का खुलेआम आवाहन किया। इस आवाहन का असर सांकेतिक हड्डताल में ही बदल सका। हर बार इन यूनियनों ने मजदूरों की एकता को डराकर तोड़ने की पूरी कोशिश की। आंदोलन के अंतिम चरण में एटक और एचएमएस की सलाहों और आदेशों को किनारे रख मारुती के पांचों प्लांट के मजदूरों ने मांग पूरी न होने तक टूल डाउन किया। लेकिन ये यूनियनें अन्य फैक्ट्रियों के मजदूरों को इनके पक्ष में गोलबंद होने से रोकने में सफल रहीं।

कई सारी ऐसी कागजी यूनियनें थीं जो इस आंदोलन में भागीदारी की ऐसी दावेदारी कर रही थीं मानों वही आंदोलन चला रही हों। वे कागजी कार्रवाहियों में लिप्त थीं। वेब पत्रिकाओं पर बड़ी बड़ी दावेदारियां कर रही थीं। या फिर मार्क्सवाद में मौलिक योगदान करने की महान इच्छा के साथ जबान की जमाखर्ची कर रही थीं। मौजूदा दौर को मजदूरों की सुन्त अवस्था घोषित करने वाला ऐसा ही एक संगठन मजदूरों के लिए क्रांतिकारी सत्याग्रह करने में सक्रिय था।

खुद को रैडिकल मानने वाली कई सारी यूनियनें इस आंदोलन में अगुआ तत्वों को खोजने पकड़ने में लगी हुई थीं। जबकि इस आंदोलन के मजदूर और उनका नेतृत्व खुद को मारुती सुजुकी इंप्लाईज यूनियन में एकवट्ठ कर चुका था। यह आंदोलन अन्य यूनियनों से सक्रिय समर्थन ढूँढ़ रहा था जिसके माध्यम से वह प्रवंध एटक, सरकार और स्थानीय दबंगों और सरकारपरस्त यूनियनों की धोखाधड़ी के खिलाफ लड़ कर अपनी मांग को मनवा सके और एकवट्ठ होकर यूनियन बनाने का अधिकार हासिल कर सके। लेकिन उसे कमजोर सा समर्थन ही मिल सका। यह यूनियन अपनी सारी मांगें भी नहीं मनवा सकी है। लगता नहीं है कि यह सिलसिला यहीं रुक जायेगा। लेकिन यह कितनी दूर तक जायेगा यह देश के क्रांतिकारी आंदोलन पर निर्भर करेगा। क्रांतिकारी ताकतों को निश्चय ही सिद्धांत

और व्यवहार को वस्तुगत हालात से खुद को जोड़ना पड़ेगा। तभी मजदूर आंदोलन समाजवाद के भविष्य का हिस्सा बन सकेगा।

अपने देश के औद्योगिक विकास के पैटर्न की विद्रूपताओं को समझे बिना मजदूर आंदोलन को विकसित करना संभव नहीं है। इस विकास का सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भ है जो आर्थिक विकास के साथ साथ बना रहता है। यह बार बार अपनी विद्रूपताओं के साथ सामने आता है। इनका शिकार खुद मजदूर वर्ग होता है। चाहे वह सूरत, जमशेदपुर का दंगा हो या धारुहेड़ा में मजदूर आंदोलन पर गांव के दबंगों द्वारा किया गया हमला। औद्योगिक विकास का सामाजिक परिवेश बहुस्तरीय संगठन की मांग करता है। एक के न होने से दूसरा कमजोर होगा और इसमें से कोई भी एक कभी भी निर्णायक हो सकता है। ऐसे में ट्रेड यूनियन आंदोलन को स्वतःस्फूर्त उभर रही यूनियनों के साथ एकता बनानी होगी। उनके जुझारु आंदोलन को अन्य आंदोलनों के साथ फौरी तौर पर जोड़ना होगा। विश्व आर्थिक मंदी के माहौल में मजदूर आंदोलन और उनके संगठन के प्रयास तेजी से बढ़ेंगे। यदि इन आंदोलनों की एकता बनती है तो यह मजदूर आंदोलन में एक छतांग होगी।

(फिलहाल
नवंबर-दिसंबर 2011 में प्रकाशित)

लड़ाई जारी है

21 अक्टूबर 2011 को तीसरे दौर की हड़ताल खत्म हो गई। अक्टूबर के अंतिम दिनों तक प्रबंधन व मजदूर नेताओं के बीच खुली व गुप्त वार्ताओं का सिलसिला खत्म होने लगा था और मजदूर काम पर वापस आ चुके थे। इन्हीं अंतिम दिनों में मजदूरों के बीच मारुती सुजुकी इंलाईज यूनियन के नेताओं द्वारा मारुती प्रबंधन से घूस खाने की बात धीरे धीरे चर्चा में आने लगी। हड़ताल के खत्म होने पर 64 निलंबित मजदूरों को काम पर वापस ले लिया गया था। 30 नेतृत्वकारी मजदूरों पर फैसला नहीं हो सका था। 4 नवंबर 2011 को द

इकॉनोमिक टाइम्स ने खबर छापी - “मारुती हड़ताल : 40 लाख लेकर ट्रेन यूनियन नेता सोनू गुज्जर बाहर”। इस अखबार ने दावा किया कि 30 निलंबित नेताओं को 16 से 40 लाख तक का भुगतान मारुती कंपनी ने किया है। यह राशि कंपनी ने देते हुए उन्हें 22 अक्टूबर को काम से मुक्त कर दिया। इसे मारुती प्रबंधन ने ‘सेटलमेंट’ का नाम दिया। बाद में मजदूर नेता शिव कुमार ने इसे ‘वीआरएस’ बताया। मारुती प्रबंधन ने 4.8 करोड़ रुपये में एक ऐसा हालात बनाने की कोशिश की जिससे मजदूरों में मजदूर नेताओं व संगठित संघर्ष करने पर भरोसा न बने। भारत के मजदूर आंदोलन में यह कोई नई बात या परिघटना नहीं थी। मुख्यधारा की यूनियनों का मुख्य कारोबार लंबे समय से यहां बना हुआ है। 1980 के बाद के दौर में इनके द्वारा किये गये ‘सेटलमेंट’ का असर यह बन चुका है कि यह जुमला मजदूर आंदोलन में धड़ल्ले से प्रयोग किया जाता है। इस आंदोलन में भी ऐसी यूनियनें ‘सेटलमेंट’ कराने के लिए लगातार बेचैन रहीं। शिवकुमार या सोनू गुज्जर इसे ‘वीआरएस’ नाम देकर ‘घूस’ खाने के दाग को छुड़ा लेने की कोशिश कर रहे हैं उसके पीछे उनका इस काम में पारंगत होना नहीं बल्कि अपने किए गए कुकर्म पर रंग रोगन चढ़ा लेने की कोशिश है। ये मजदूर नेता व प्रबंधन अच्छी तरह जानते हैं कि इस कंपनी में मजदूरों को ‘वीआरएस’ लेने की कोई सुविधा नहीं है और न ही इसके लिए इतनी राशि देने के लिए कंपनी तैयार ही होगी।

2011 में सबसे लंबा चलने वाले इस मजदूर आंदोलन का न तो अंत हुआ है और न ही वहां मजदूर नेताओं का अकाल पड़ा है। मारुती के मजदूर एक बार फिर संगठित हुए हैं। उन्होंने इन नेताओं पर मुकदमा भी चलाने का फैसला किया है। इन मजदूरों ने यूनियन बनाने की मांग व काम के हालात में सुधार की मांग को सामने रख कर चलने का फैसला किया है। फिलहाल, मजदूर आंदोलन रुका नहीं है, लड़ाई जारी है।

पृष्ठ 13 का शेष...

सामाजिक सुरक्षा कोष में यह पूरी राशि जमा होने के बाद उस योजना के लिये भूमि अधिग्रहण की मंजूरी दी जानी चाहिए।

सामाजिक सुरक्षा के सवाल के महत्व को वैश्वीकरण के दौर की मुक्त बाजार की नीतियों और तेजी के साथ अस्तित्व में आ रहे विभिन्न मुक्त व्यापार क्षेत्रों के साथ भी जोड़कर देखना चाहिए। पूंजी इतनी स्वतंत्र हो गयी है कि वह थोड़ा सा संकट देखते ही या अधिक लाभ कमाने का मौका मिलते ही कहीं भी और कभी भी भाग सकती है और भारी संख्या में मजदूरों को बेरोजगार कर सकती है, जैसा कि इस आर्थिक संकट के समय हुआ भी। मुक्त व्यापार क्षेत्रों जैसे सार्क और आसियान में जहां पूंजीपतियों को पूजीनिवेश के लिये पूरे क्षेत्र में हर देश में स्थानीय जैसा ही माना जाएगा, ऐसे में मजदूरों को संकट में डालकर पूंजी का पलायन या पलायन की धमकी खतरनाक स्थितियों तक बढ़ जाएगी जो मजदूर की जिन्दगी और उनके आन्दोलन को नकारात्मक रूप में प्रभावित करेगी। ऐसी स्थितियों में यह जरूरी हो गया है कि न सिर्फ देश में बल्कि पूरे क्षेत्र में उदाहरण के तौर पर सार्क क्षेत्र या आसियान क्षेत्र में एक समान सामाजिक सुरक्षा की मांग की जाए। आसियान क्षेत्र की ट्रेड यूनियनों ने एक साझा मंच बनाकर यह सवाल उठाया भी है। सार्क की गति अभी धीमी है तेकिन देर-सबेर यह सवाल यहां भी उठाना ही है। यह तो संभव नहीं कि सभी देशों में सामाजिक सुरक्षा के लाभ बराबर हों लेकिन सभी देशों में एक समान सामाजिक सुरक्षा का ढांचा संभव है और इसकी मांग की जानी चाहिए।

अन्त में सामाजिक सुरक्षा के इस आन्दोलन में यह संभावना भी छुपी हुई है कि यह जाति, धर्म, क्षेत्र और भाषा तथा अलग-अलग पेशागत हितों में बंटी देश की आमजनता को एक साथ खड़ा कर दे। यह आज हमारे देश के जनांदोलन की सबसे बड़ी समस्या है और इसका समाधान कर सकने की ताकत रखने वाला आन्दोलन ही देशव्यापी आन्दोलन का रूप ले सकता है।

नेशनल एलायंस फॉर लेबर राईट्स (एन.ए.एल.आर)

राष्ट्रीय श्रमिक अधिकार मंचः एक परिचय

■ मुकेश मानस

वर्तमान स्थिति

मौजूदा मानव सभ्यता को भौतिक और सांस्कृतिक संदर्भों में नई ऊंचाईयों तक ले जाने में मजदूर वर्ग ने असंख्य कुबनियां दी हैं। एक वर्ग-विहीन समाज की तरफ बढ़ने के अपने अभियान में अनगिनत मजदूरों ने सम्मान, मानव अधिकारों और अपने वर्ग के सामूहिक हितों के लिए अपनी जान गंवाई है।

आज हम एक ऐसी दुनिया में रह रहे हैं जहां अपार सम्पदा पैदा हो रही है। लेकिन यह सारी सम्पदा, इसे बनाने वाले मजदूरों के किसी काम की नहीं है। आज श्रमिक वर्ग को जिन्दा रहने के लिए जरूरी न्यूनतम मजदूरी से भी कम पर काम करने को मजबूर किया जा रहा है। काम के ऐसे हालात हैं, जिन्हें देखकर सहज ही दासता के युग की याद आती है। अमीरों और गरीबों के बीच की खाई फैलती जा रही है। कारखानों, सेवाओं, खेती, और असंगठित क्षेत्र-हर जगह कामगारों के श्रम से मालिक अधिकतम मुनाफा नियोड़ने में लगे हैं।

श्रमिक अधिकारों और मजदूर आंदोलन के सामने खड़े सवालों, मुद्दों और चुनौतियों में कुछ इस प्रकार है:-

1. श्रमिक अधिकारों के बारे में संवेधानिक दांचा लगातार ढहता जा रहा है। इस संदर्भ में, सरकारी नीतियां राष्ट्रीय और अंतराष्ट्रीय पूँजीपतियों, अमीरों और उद्योगपतियों के हितों के सामने लगातार समर्पण करती जा रही है।
2. उदारीकरण, निजीकरण और (पूँजी के) वैश्वीकरण की नव-उदारावादी आर्थिक नीतियों, पिछले दो दशकों में लगातार मजबूत हुई हैं। श्रमिक वर्ग के खिलाफ ये नीतियां पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के नए घातक हथियारों के तौर पर काम रही हैं।
3. हाल की वैश्विक मंदी और उससे उबरने की प्रक्रियाओं-दोनों में ही श्रमिक वर्ग के हितों की अनदेखी की गई है।
4. वर्तमान श्रम कानूनों का क्रियान्वयन

श्रमिक वर्ग की उम्मीदों से बहुत कम है। यह आम धारणा बन गई है कि सरकारी श्रम विभाग के इंस्पेक्टर सबसे भ्रष्ट किस्म के सरकारी अफसर होते हैं। सरकार का श्रम मंत्रलय आमतौर पर श्रमिक वर्ग के अधिकारों की हिफाजत करने के लिए कोई संघर्ष नहीं होता।

5. श्रमिकों के वास्तविक वेतन और श्रमिक अधिकारों में कटौती, अमीरों के लिए अधिक से अधिक टैक्स-रियायतें, डीजल/खाद/भोजन पर सवसिडी में कटौती, और उद्योगों तथा विशेष आर्थिक(शोषण) क्षेत्र, यानी सेज, के लिए सव्सिडी में बढ़ातरी हमारी उच्च वृद्धि दर वाली अर्थव्यवस्था की खासियतें हैं।
6. सभी मजदूरों के लिए पर्याप्त सामाजिक सुरक्षाओं का अभाव है।
7. यूनियनों का निर्माण और रजिस्ट्रेशन अधिक से अधिक कठिन होता जा रहा है। संगठन बनाने की स्वतंत्रता के अधिकार पर रोज-ब-रोज हमले हो रहे हैं।
8. अदालतों श्रमिक अधिकारों के प्रति ज्यादा असंवेदनशील होती जा रही हैं और श्रमिक हितों के प्रति उनकी उपेक्षा और अधिक स्पष्ट होती जा रही है।
9. अलग-अलग तरह के श्रमिक वर्ग के लिए अलग-अलग श्रम कानून बन रहे हैं। ठेके और अनियमित रूप से काम करने वाले मजदूरों और असंगठित क्षेत्र के मजदूरों के अधिकारों को नाम मात्र भी स्वीकार नहीं किया जाता। यह एक नई किस्म की जाति व्यवस्था को स्थापित कर रहा है।
10. सरकार द्वारा लाए गए कुछ तथाकथित अच्छे श्रम कानून (असंगठित क्षेत्र का बिल आदि) वास्तव में धोखेबाजी के पुलिन्दे हैं।
11. मजदूर वर्ग के एक बड़े हिस्से के लिए आठ घंटे के काम का दिन और न्यूनतम वेतन बहुत दूर के सपने लगते हैं।
12. देश के अंदर मजदूरों का एक स्थान

से दूसरे स्थानों को पलायन काफी ऊंचे स्तर पर पहुंच गया है। लेकिन ऐसी परिस्थितियों में उनके अधिकारों के बारे में न तो जागरूकता है, और न ही उनका क्रियान्वयन होता है। हर रोज लाखों मजदूर काम की तलाश में दूसरे शहरों और क्षेत्रों की यात्रा पर निकलते हैं।

13. सस्ते श्रम और ऊंचे मुनाफे के लालच में व्यवसायी लोग बच्चों से काम लेते हैं, बाल अधिकारों और सुरक्षित बचपन के अधिकार का हनन करते हैं।
14. बहुत सारे मामलों में महिलाओं को पुरुषों से कम वेतन दिया जाता है। कार्यस्थल पर सुरक्षा, समान कार्य के लिए समान वेतन, और समान-प्रतिनिधित्व जैसे महिला श्रमिकों के खास अधिकारों पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है।
15. कार्यस्थलों पर जाति-गत भेदभाव आम बात है। अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के श्रमिकों की सामाजिक पृष्ठभूमि के कारण, अक्सर उनके साथ असमानपूर्ण ओछा व्यवहार किया जाता है और कई बार कमतर मजदूरी दी जाती है। आम मजदूर वर्ग में भी जाति-आधारित असंवेदनाएं भरी हुई हैं। इसी तरह की बात अलग धर्म या अलग क्षेत्र के श्रमिकों के प्रति रखें में भी है। श्रमिक-आंदोलन के अन्दर मौजूद ऐसी प्रवृत्तियों से प्रभावकारी ढंग से निवारने के तरीके और हर सामाजिक किस्म के श्रमिकों के सामाजिक हितों को एक साथ जोड़ने की रणनीतियां तलाशने की सख्त जरूरत हैं।
16. शहरी भद्रजनों के 'सभ्य समाज' में बेघर मजदूरों का अपराधी और घुसपैठिया माना जा रहा है। उनको किसी मानव-अधिकार के काविल ही नहीं माना जाता।
17. स्थापित ट्रेड यूनियनों के आन्दोलनों के ठहराव ने असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों को संगठित करने की जरूरत को पुरोगार

- द्वंग से सामने ला खड़ा किया है।
18. राजनीतिक दल, ट्रेड यूनियन और श्रमिक वर्ग के परस्पर संबंधों के पुराने ढांचे पर फिर से सोचने की जरूरत है।
19. क्या ट्रेड यूनियनें खास विचारधाराओं और रणनीतिक कार्यदिशाओं के अनुसार अलग-अलग बंटी होनी चाहिए या उन्हें विभिन्न प्रगतिशील विचारों (जैसे मार्क्सवाद, अम्बेडकरवाद, समाजवादी नारीवाद आदि) के साझे मंच के रूप में चलना चाहिए?
20. पर्यावरण संतुलन और जलवायु परिवर्तन जैसे उभरते मुद्दों पर मजदूर आंदोलन का क्या नजरिया होना चाहिए। समाज में व्याप्त उपभोक्तावाद के स्तर के बारे में क्या मजदूर आन्दोलन को चिंतित होना चाहिए?
21. भारत जैसे देश में मजदूर वर्ग के आंदोलन के अंतरराष्ट्रीय कार्यभार क्या हो सकते हैं।
22. नए युग की श्रमिक आन्दोलन की विशेषताएं क्या होगी?
23. बहुत सारे कर्मचारी अपने को मजदूर नहीं मानते। श्रमिक-वर्ग की अस्मिता को कैसे मजबूत बनाया जाय?

NALR की उत्पत्ति/पृष्ठभूमि

ऊपर दिए गए सवालों और बिंदुओं पर चर्चा करने की प्रक्रिया में ही नेशनल एलायंस फॉर लेबर राईट्स के निर्माण की प्रक्रिया 2009 में शुरू हुई थी। कई शोधकर्ताओं, महत्वपूर्ण व्यक्तियों, गैर सरकारी संगठनों (विशेष रूप से सामाजिक रूप से बहिष्कृत समूहों द्वारा गठित), प्रकृति में छोटे और भारत के दूरस्थ कोनों में बिखरे हुए श्रम संगठनों के साथ बातचीत के दौरान एक बात बार-बार आई कि श्रम अधिकारों के मामले पर एक राष्ट्रीय मंच बनाने की आवश्यकता है। इनमें से काफी समूह मुख्यधारा की राजनीतिक पार्टियों और उनके साथ जुड़ी यूनियनों से एक दूरी बनाए रहे हैं। यह भी महसूस किया गया कि श्रम अधिकारों पर लगातार हमला किया जा रहा है। इसलिए तमाम बिखरी हुई यूनियनों, व्यक्तियों और समूहों को एक जगह आने की जरूरत है और अपनी आवाज को सामूहिक रूप से उठाने की जरूरत है। इन

- मुद्दों पर मई दिवस 2010 को एक संगठित आयोजित की गई और NALR के साथियों के बीच और अधिक स्पष्टता और एक साझापन बनाने की प्रक्रिया शुरू करने के बारे में सोचा गया। इसकी एक कड़ी के रूप में 9 सितंबर 2010 को एक राष्ट्रीय परामर्श शिविर आयोजित किया गया। इस शिविर में दो महत्वपूर्ण बातें हुईं। एक तो विभिन्न समूहों की तरफ से उनके सरोकारों पर साझापन बना और दूसरे सामाजिक आंदोलनों और श्रम आंदोलनों के एकीकरण के मसले पर गंभीर बातचीत हुई। मई दिवस 2011 को आयोजित सम्मलेन ने इस प्रक्रिया को और मजबूत बनाया। वर्तमान में, 4 स्तर के साथ दिल्ली, पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, गुजरात और मध्य प्रदेश आदि राज्यों के संगठन जुड़े हैं।

हमारी दृष्टि

एक ऐसे समाज का निर्माण जिसमें श्रम और मजदूर निर्णय प्रक्रिया के केन्द्र में हों और उन्हें अन्य नागरिकों की तरह समान अधिकार, सम्मान और अवसर प्राप्त हों। ऐसा समाज जो समानता, स्वतंत्रता, स्थिरता, न्याय और शांति के सिद्धांतों पर निर्मित हो और जिसमें वर्ग, जाति, लिंग, राष्ट्रीयता, भाषा, संस्कृति, धर्म, उम्र, योग्यता आदि के आधार पर कोई दमनकारी संबंध न हो।

हमारा मिशन

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक-सांस्कृतिक संरचनाओं को एक लोकतांत्रिक तरीके से मजदूरों के हितों के प्रति अधिक अनुकूल बनाना।

हमारा लक्ष्य

श्रम समर्थक नीतियाँ बनाने के लिए और अन्य नीतियों में मजदूरों के हितों की रक्षा करने के लिहाज से श्रमिकों/श्रम शक्ति के मुद्दों को उठाना, मजदूरों की आवाज को मजबूत बनाना और मौजूदा नीतियों और श्रम से संबंधित योजनाओं के कार्यान्वयन में सुधार लाना।

हमारी रणनीतियाँ

1. मजदूरों के मुद्दों पर काम करने वाले और उनमें रुचि रखने वाले संगठनों, संस्थाओं, व्यक्तियों के बीच एकजुटता और साझापन बढ़ाना ताकि श्रमिक आंदोलन सशक्त हो सके।

2. मजदूरों को संगठित करने की प्रक्रिया को बढ़ावा देना और विभिन्न सामाजिक संस्थाओं को मजदूरों को संगठित करने और मजदूरों के मुद्दों को उठाने के लिए प्रेरित करना।
3. श्रम मुद्दों पर अनुसंधान, प्रलेखन, प्रकाशन करना और संबंधित विषयों पर शैक्षणिक और जागरूकता सामग्री वितरित करना।
4. श्रम अधिकारों और मुद्दों, श्रम समर्थक नीतियों और कार्यक्रमों के लिए विभिन्न स्तरों पर हितधारकों के साथ पैरवी करना और जनमत तैयार करना।
5. मजदूरों के लिए कानूनी सहायता प्रदान करना।
6. जीवीनी स्तर के सामाजिक कार्यकर्ताओं और मजदूर संगठनों और आंदोलनों में लगे कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करना।
7. मजदूरों के बीच श्रम कल्याण योजनाओं के बारे में जानकारी का प्रचार-प्रसार करना और उन्हें ऐसी योजनाओं के तहत अपने हक/लाभ पाने के लिए प्रेरित करना और सहायता देना।
8. सभी श्रेणियों के मजदूरों, खासकर असंगठित क्षेत्र के मजदूरों को संगठित करना।
9. श्रमिक और सामाजिक आंदोलनों में संवाद और एकजुटता का माहौल बनाना ताकि इनका संयुक्त मोर्चा मजबूत हो।
10. विचार विमर्श, सेमिनार, सम्मेलन, समाचार पत्र - पत्रिका आदि के जरिये विभिन्न श्रम मुद्दों पर एक समान समझ विकसित करना और उसका प्रचार-प्रसार करना।
11. भारतीय संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धांतों और समाजवादी भावना का प्रचार करना। साथ ही, समानता और सामूहिक कल्याण की भावना के साथ लोकतांत्रिक तरीके से भारतीय समाज के पुनर्गठन के लिए जागरूकता और जनमत पैदा करना।

हम श्रमिकों से संबंधित मुद्दों पर रुचि लेने वाले और काम करने वाले सभी संगठनों और व्यक्तियों से अनुरोध करते हैं, कि वे NALR के साथ जुड़ें और एक साझी मुहिम आगे बढ़ायें।

सम्पर्क: nalrights@gmail.com

जिंदाबाद इन्कलाब

नफस-नफस, कदम-कदम, बस एक फिर दम-ब-दम
धिरे हैं हम सवाल से हमें जवाब चाहिए!
जवाब दर सवाल है कि इंकलाब चाहिए!
इंकलाब-जिंदाबाद! जिंदाबाद-इंकलाब!....

जहां अवाम के खिलाफ साजिशें हो शान से
जहां पे बेगुनाह हाथ धो रहे हों जान से
जहां पे लफजे-अमन एक खौफनाक राज हो
जहां कबूतरों का सरपरस्त एक बाज हो
वहां न चुप रहेंगे हम, कहेंगे हां, कहेंगे हम!
हमारा हक, हमारा हक, हमें जनाब चाहिए!
धिरे हैं हम सवाल से हमें जवाब चाहिए!
जवाब दर सवाल है कि इंकलाब चाहिए!
इंकलाब-जिंदाबाद! जिंदाबाद-इंकलाब!....

यकीन आंख मूँद कर किया था जिनको जान कर
वही हमारी राह में खड़े हैं सीना तान कर
उन्हीं की सरहदों में कैद हैं हमारी बोलियां
वही हमारे थाल में परस रहे हैं गोलियां
जो इनका भेद खोल दे! हर एक बात बोल दे!
हमारे हाथ में वही खुली किताब चाहिए!
धिरे हैं हम सवाल में हमें जवाब चाहिए!
जवाब दर सवाल है कि इंकलाब चाहिए!
इंकलाब-जिंदाबाद! जिंदाबाद-इंकलाब!....

वतन के नाम पर खुशी से जो हुए हैं बे-वतन
उन्हीं की आह वे-असर, उन्हीं की लाश वे-कफन
लहू पसीना बेचकर जो पेट तक न भर सके

करें तो क्या करें भला न जी सकें न मर सकें
सियाह जिन्दगी के नाम, उनकी हर सुबह-औ-शाम
कि उनके आसमां को सुर्ख आफताब चाहिए!
धिरे हैं हम सवाल से हमें जवाब चाहिए!
जवाब दर सवाल है कि इंकलाब चाहिए!
इंकलाब-जिंदाबाद! जिंदाबाद-इंकलाब!....

होशियार! कह रहा लहू के रंग का निशान
ऐ किसान होशियार! होशियार नौजवान
होशियार! दुश्मनों की दाल अब गले नहीं
सफेदपोश रहजनों की चाल अब चले नहीं
जो इनका सर मरोड़ दे, गर्भर इनका तोड़ दे
वो सरफरोश आरजू वही शवाब चाहिए!
धिरे हैं हम सवाल से हमें जवाब चाहिए!
जवाब दर सवाल है कि इंकलाब चाहिए!
इंकलाब-जिंदाबाद! जिंदाबाद-इंकलाब!....

तसल्लियों के इतने साल बाद अपने हाल पर
निगाह डाल सोच और सोचकर सवाल कर
किधर गए वो वायदे? सुखों के ख्वाब क्या हुए ?
तुझे था जिनका इन्तजार वा जवाब क्या हुए ?
तू इनकी झूठी बातों पर, न और एतबार कर
कि तुझको सांस-सांस का सही हिसाब चाहिए!
धिरे हैं हम सवाल है। से हमें जवाब चाहिए!
जवाब दर सवाल कि इंकलाब चाहिए!
इंकलाब-जिंदाबाद! जिंदाबाद-इंकलाब!!!

-शलभ श्रीराम सिंह

अभी वही है निजामे-कोहना

अभी वही है निजामे-कोहना, अभी तो जुल्मो-सितम वही है
अभी मैं किस तरह मुस्कराऊं अभी तो रंजो-अलम वही है

नये गुलामों अभी तो हाथों में हैं वही कास-ए-गदाई
अभी तो गैरों का आसरा है अभी तो रस्मो-करम वही है

अभी कहां खुल सका है पर्दा अभी कहां तुम हुए हो उरियां
अभी तो रहबर बने हुए हो अभी तुम्हारा भरम वही है

अभी तो जम्हूरियत के साथे में आमरीयत पनप रही है
हवस के हाथों में अब भी कानून का पुराना कलम वही है

अभी वही हैं उदास राहें वही हैं तरसी हुई निगाहें
सहर के पैगम्बरों से कह दो अभी यहां शामे-गम वही है।

मैं कैसे मानूं कि इन खुदाओं की बन्दगी का तिलिस्म टूटा
अभी वही पीरै-मैकदां है अभी तो शेखो-हगम वही है।

-खलीलुरहमान आजमी

राजेश उपाध्याय द्वारा फ्लैट नंबर बी-1, ओम प्लाजा, प्लाट-97, राजेंद्र नगर सेक्टर-5, साहिवाबाद, जिला- गाजियाबाद (उ.प्र.),
पिन-201005 से प्रकाशित और उद्यम द्वारा दुकान नंबर ए -1, हनुमान मंदिर काम्प्लेक्स, कर्नॉट प्लेस, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।